

संरक्षक
केदारनाथ सिंह
इंद्रनाथ चौधुरी

ISSN : 2394-1723

vagarth

भारतीय भाषा परिषद की मासिक पत्रिका
वर्ष 23, अंक 267, अक्टूबर 2017

संपादक
शंभुनाथ

इस अंक में
संपादकीय 5

परिषद अध्यक्ष
डॉ. कुसुम खेमानी

प्रकाशक
नंदलाल शाह

संपादन सहयोग और अंक सज्जा
सुशील कान्ति

संपादकीय विभाग
36 ए, शेक्सपियर सरणी
कोलकाता-700017
vagarth.hindi@gmail.com
7449503734
(दिन 12 बजे से संध्या 6 बजे)

आवरण
तारकनाथ राय

vagarth-1

कहानियाँ
पति, पत्नी और पिता/संजय कुंदन 10
आस्तिक/जयप्रकाश कर्दम 20
आशा साहनी के बहाने/रीता गुप्ता 27
हाथी चले बाजार (मैथिली कहानी)/देवशंकर नवीन 33

परिचर्चा
कवि संवाद : कुछ होगा कुछ होगा, अगर मैं बोलूंगा
लीलाधर जगूड़ी/राजेश जोशी/अरुण कमल/प्रभात
त्रिपाठी/लीलाधर मंडलोई/कुमार अंबुज
(प्रस्तुति : अच्युतानंद मिश्र) 39

कविताएँ
ज्ञानेंद्रपति/निर्मला तोदी/नीलिमा सिन्हा
डोगरी कविताएँ : पद्मा सचदेव
कहरी सिंह मधुकर/यश शर्मा 60

स्मृति
राष्ट्रीय संस्कृति : प्रगतिशील आंदोलन
रामविलास शर्मा
(अनुवाद और प्रस्तुति : विजय मोहन शर्मा) 69
राष्ट्रवाद, रवींद्रनाथ और गांधी
इकबाल अहमद से साक्षात्कार
(अनुवाद और प्रस्तुति : अच्युतानंद मिश्र) 76

विश्वदृष्टि

लैटिन अमरिकी कविताएँ : जॉर्ज टेलियर/एडमंडो कामार्गो/डेविड होर्ता/

नेस्टर पेरलॉघर/पीदाद बोनेट (अनुवाद : राजेश कुमार झा) 81

रूसी कहानी : द्वंद्व युद्ध : निकोलाई तेलेशेव (अनुवाद : सुशांत सुप्रिय) 88

आलोच्य

व्याकरण और पितृसत्ता : रवींद्र कुमार पाठक 92

समकालीन कविता : परंपराएँ और चुनौतियाँ : संजय राय 97

वातायन

पंखुड़ी-पंखुड़ी प्रेम/एकांत श्रीवास्तव 102

समीक्षा संवाद

कहानी में समय का सच/शिव कुमार यादव 105

व्यंग्य कथा

प्रवचन वीर/अरिंदम 105

सोशल मीडिया 114

विविध

सांस्कृतिक गतिविधियाँ/किताबें/मत-मतांतर 117

देश-देशांतर

नागार्जुन और एन्ने रनसिंघे (भीतरी आवरण)

वार्षिक सदस्यता : 200 रुपए/तीन साल : 550 रुपए/पांच साल : 900 रुपए/
आजीवन : 3000 रुपए/संस्थाओं के लिए : वार्षिक 220/ तीन साल : 600 रुपए/
पांच साल : 975 रुपए/आजीवन 3000 रुपए/ विदेश : वार्षिक : 40 डॉलर
भारतीय भाषा परिषद, वागर्थ के नाम से चेक या ड्राफ्ट भेजें

एजेंसियों और सदस्यों द्वारा चेक से भुगतान Bharatiya Bhasha Parishad, Vagarth के नाम
या नेफ्ट द्वारा : पंजाब नेशनल बैंक, शाखा : पार्कस्ट्रीट, A/c no. 0573000100107770,
IFC Code PUNB0057300 पर उपर्युक्त नाम से किए जा सकते हैं।
भुगतान के बाद एस एम एस कर दें - 07044972716 : बोनिक सिंह(सदस्यता और बिक्री)
10 बजे दिन से 6 बजे संध्या तक

व्यवस्था : मीनाक्षी दत्तागुप्ता, एस पी श्रीवास्तव; प्रूफ संशोधन : मिथिलेश प्रसाद
समय पर भुगतान करने वाली एजेंसियों को ही हम भविष्य में पत्रिका भेज पाएंगे।

- प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- सर्वाधिकार सुरक्षित
- वागर्थ से संबंधित सभी विवाद कोलकाता न्यायालय के अधीन होगा।
- www.bharatiyabhashaparishad.org

संदेह मुक्तिद्वार है

कलियुग बीत गया, यह छलयुग है। ऐसे युग में संदेह ही मुक्तिद्वार है। शिक्षा दी जाती रही है कि आस्था ही सब कुछ है, संदेह करना पाप है। संदेह करने वालों को दुष्टात्मा कहा गया है। इस तरह का प्रचार धर्म, व्यापार और राज्य सत्ताओं द्वारा सैकड़ों साल से होता आया है, ताकि अंधविश्वास बने रहें और पाखंड चलते रहें।

संदेह से प्रश्न जन्म लेते हैं, प्रश्न करना स्वतंत्र व्यक्तित्व का आकार लेना है। यह सभी सत्ता केंद्रों को ही चुनौती की तरह दिखता है। इसलिए किसी भी युग के धर्मगुरु, बाजारपति या राजनेता नहीं चाहते कि लोग संदेह करें, प्रश्न करें। ये सिर्फ भक्त, पिछलग्गू और सम्मोहित लोग खोजते हैं।

देकार्त ने कहा था, 'मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ।' सोचने के लिए विश्वास काफी नहीं होते, संदेह भी जरूरी है। आंख मूंद कर विश्वास करना आसान है, पर किसी विषय पर सोचते-विचारते समय संदेह ही सच्चा सहायक होता है। शंकालुता और संदेह में फर्क है। शंकालु आदमी एक निष्कर्ष पर पहले से पहुंचा होता है, जबकि संदेह करना पारदर्शी चिंतन का मुख्य उपकरण है। यह तर्क का स्रोत है, लोकतंत्र की जमीन है। संदेह को बुद्धिमानों का प्रकाशस्तंभ कहा गया है। वस्तुतः किसी सच्चे विश्वास तक प्रश्न करते हुए ही पहुंचा जा सकता है। गंभीरता से संदेह करने वाला मन ही सजीव मन होता है, जबकि किसी स्थिर विश्वास या झूठी आशा से जकड़ा मन निर्जीव मन है।

आज जीवन में कदम-कदम पर संदेह करने की जरूरत है। इस तरह की चीजों पर संदेह करने की जरूरत है कि मनुष्य की श्रेष्ठता की कसौटी अधिक कमाई है, सुंदर होने के लिए गोरा लगना जरूरी है। इस पर भी संदेह होना चाहिए कि 'दूसरे' को हमेशा संदेह से देखो। विचारधारा के पक्ष में विचारकूपता पर संदेह जरूरी है और चौगुना-आठ गुना बदन बढ़ाते डिजिटल 'सुरसा' पर भी, जिसके भीतर एक पूरी लंका मौजूद है!

हजारों साल से शास्त्रों ने संदेह करने से रोका है तो लोक ने संदेह व्यक्त किया है। प्राचीन काल में संदेह से ही दर्शन बने, नए धर्म बने। इधर सभ्यता के भौतिक शिखर पर धार्मिक कट्टरताओं के बढ़ने से हर संदेह बर्दाश्त से बाहर है। धर्मगुरुओं की संख्या बढ़ी है, उन पर अंधविश्वास बढ़ा है। कूपमंडूकता बढ़ी है। राजनेताओं को भी अंधे फालोअर चाहिए, भीड़ चाहिए। बाजार व्यवस्था भिन्न नहीं है।

उसकी चमक-दमक, प्रलुब्ध करने की ताकत और नए तकनीकी साधनों से उसके शक्तिशाली प्रचार मनुष्य को संदेह करने नहीं देते। च्यवनप्राश हो या शेयर, ऐसी चीजें खरीदते समय उपभोक्ता नागरिक के मन में पर्याप्त प्रश्न पैदा नहीं होते। वह मोहाविष्ट रहता है। सभी विज्ञापन प्रलोभनों से भरे होते हैं, बस कोने में कहीं चुपचाप लिखा होता है- 'शर्तें लागू' या 'कंडीशंस एप्लाई'! बाजार की अदृश्य शर्तों में ही छल का सारा रहस्य छिपा है। जाहिर है, आज जो संदेह नहीं करेगा, वह छला जाएगा।

समाज में संदेह के लिए स्पेस पहले से घटा है, क्योंकि लोकतंत्र सिकुड़ा है और झुंड मानसिकता पनपी है। लोग किसी न किसी के वशीभूत हैं, फैन हैं- अभिनेत्री-अभिनेता के, नेता के, खिलाड़ी के। वे वस्तुओं के भूखे हैं या इनके प्रति असीमित पूजाभाव से भरे। संदेह करने की उनकी क्षमता कुंद हुई है। समाज में संदेह घटा है तो भय बढ़ा है। ऐसी स्थितियाँ मनुष्य की अच्छाइयों को खत्म कर देती हैं।

ज्ञान बढ़ता है तो संदेह भी बढ़ता है। इतना ही नहीं, संदेह को रोकना ज्ञान को रोकना है। यदि मन में संदेह न हो तो समझना चाहिए कि हमारा ज्ञान ठहरा हुआ है। बुद्ध ने कहा था, 'किसी ने कहा इसलिए मान लिया, किसी ग्रंथ में लिखा है इसलिए श्रद्धावश मान लिया, ऐसा नहीं करना चाहिए। अपने विवेक से काम लो! विवेक से भी बढ़ कर अनुभव से देखना चाहिए कि बात सही है या गलत।' नवजागरण आता ही नहीं, यदि सृष्टि की पुरानी व्याख्याओं और धारणाओं को संदेह से नहीं देखा जाता।

कठोपनिषद् के नचिकेता के मन में संदेह पैदा हुआ, उसके मन में प्रश्न ही प्रश्न थे। कृष्ण ने अर्जुन को संदेह करने से मना किया हो, लेकिन महाभारत का प्रतिपाद्य वही है जिसका स्रोत अर्जुन की चिंताओं में था। इसके अनुशासन पर्व में कहा गया है, 'अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप

है, अहिंसा परम सत्य है, क्योंकि उससे धर्म प्रवर्तित होता है।' भयंकर युद्धों की कथा होने के बावजूद महाभारत का केंद्रीय प्रतिपाद्य हिंसा नहीं, अहिंसा है। महाभारत के अंतिम दृश्य में युद्धभूमि में शवों के पास स्त्रियों का बिलखना यही बताता है। ऐसा युग बार-बार आता है जब विजय में राज्य मिल जाता है, भौतिक सुख-सुविधाएँ होती हैं, लेकिन पास में कुछ भी 'अर्थपूर्ण' बचा नहीं होता। ऐसे हर युग में मनुष्य को अपनी नई ऐतिहासिक यात्रा संदेह से ही शुरू करनी पड़ी है, क्योंकि हर आस्था, हर आशा तब एक ऐसी अंधेरी जगह होती है जिसमें सिर्फ चमगादड़ उड़ते हैं।

कृष्ण बच्चे थे, यदि उन्होंने जहरीला दूध पिलाने के लिए वेश बदल कर आई पूतना पर संदेह नहीं किया होता तो वह राक्षसी मार ही डालती! गोपिकाएँ उधो को संदेह की नजर से नहीं देखतीं तो प्रेम का पथ छोड़ चुकी होतीं। प्रेम आज भी एक बड़ी चीज है। सुकरात को संदेह करने के कारण जहर का प्याला पीना पड़ा था। कबीर अपने गहरे मन में विश्वासों के साथ-साथ संदेहों से भी भरे थे। बाबाओं-धर्मगुरुओं के इधर फैले जाल, राजनेताओं के दिखाए जाते सब्जबाग और बाजार द्वारा कदम-कदम पर बिछाए गए छल के सुंदर गलीचों से बचने का एक ही रास्ता है- संदेह करो!

गांधी के महत्व को सीमित करने के उद्देश्य से उन्हें 'राजनीतिक कारीगर' (सलमान रुश्दी) कहा गया, जाति भेदभाव का समर्थक बताया गया (अरुंधती राय), यहाँ तक कि उनके यौन संबंधों या सेक्स के प्रयोगों पर ज्यादा जोर देकर चर्चा हुई (मनुबेन की डायरी)। उनके अफ्रीका प्रवास के समय की कुछ बातों को उठा कर उन्हें समलैंगिक के रूप में भी पेश किया गया। सी. राजगोपालाचारी, बी.आर. अंबेडकर और सुभाष चंद्र बोस से उनकी दूरियों को व्यक्तिगत रूप देकर उपस्थित किया गया और दूरियों पर बढ़-चढ़ कर चर्चा हुई।

यह सवाल भी उठा, नई पीढ़ी गांधी को क्यों पसंद नहीं करती? क्योंकि गांधी 'बोरिंग' थे। वे

देश भर में लाठी लेकर प्रेम और अहिंसा का संदेश देते फिरते थे। कई अंग्रेजी बुद्धिजीवियों का गांधी के प्रति आकर्षित न होना या उनके जीवन के एक ही टुकड़े को उठा कर असंगति की चीरफाड़ अस्वाभाविक बात नहीं है, क्योंकि मैकाले और चर्चिल की प्रेतात्माएँ मरी नहीं हैं।

विस्मयजनक नहीं है कि उपभोक्तावाद की प्रचारक कुछ बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने मुनाफे के लिए भारतीय भावुकता की दूत बन कर गांधी की तस्वीर कभी चप्पल पर तो कभी शराब की बोतल पर लगा दी। शोर मचने पर क्षमा मांग ली। 2010 में मांट ब्लांक ने अपनी दो लाख कीमत वाली कलम के लिए गांधी का ब्रांड के रूप में इस्तेमाल किया था। गांधी की छड़ी, चश्मा और पादुका एक नीलामी में विदेश से करोड़ों देकर खरीद लाए थे एक शराब कंपनी 'किंगफिशर' के मालिक विजय माल्या, जो अभी भगोड़े हैं! बिड़ला मंदिर में गोली खाने के बाद उनके रक्त से सनी वह घास तक नीलामी पर चढ़ गई जो बड़े श्रद्धा भाव से धरती से उठाई गई होगी। अब गांधी का कुछ बचा दिखता है तो हर भारतीय शहर में भव्य बाजार की तरफ जाने वाली किसी सड़क का नाम- एम जी रोड! 2 अक्टूबर को फूलों की माला चढ़ाने के लिए जगह-जगह उनकी मूर्तियाँ हैं और नोटों पर उनकी तस्वीर है। 'स्वच्छ भारत' लिखे गोल चश्मे, बस गांधी ऐसी ही चीजों तक बचे हुए हैं। भारत बहुत कुछ पाकर भी, दुखद है कि उसे खो चुका है!

पिछले कुछ सालों से गांधी को ज्यादा अपशब्द कहा जाने लगा है। उनके राष्ट्रपिता कहे जाने पर आपत्तियाँ बढ़ी हैं। दरअसल गांधी की स्मृतियों, उनके विचारों और चीजों के साथ जितना खिलवाड़ हुआ है, उतना किसी अन्य महान व्यक्तित्व के साथ नहीं।

यह अद्भुत है कि गांधी के महत्व को न समझ कर वामपंथियों और हिंदू कट्टरतावादियों ने उन पर समान रूप से वैचारिक हमले किए, उन्हें

देश का नुकसान करने वाला माना। हिंदू कट्टरतावादियों ने उन्हें 'विश्वासघातक' कहा। वामपंथियों ने उन्हें 'बूर्जुआ' कहा तो मुस्लिम लीग के नेताओं ने 'शैतान' घोषित किया। जिन्ना ने उन्हें 'तलवे चाटने वाला' बताया। गांधी को तकलीफ थी, 'मुझे जीवन भर गलत समझा गया' (यंग इंडिया, 1926)। दरअसल गांधी को टुकड़ों में अलग-अलग देख कर नहीं जाना जा सकता। उन्हें ऐतिहासिक स्थितियों से विच्छिन्न करके नहीं समझा जा सकता। उनकी जिंदगी एक अविभाज्य समष्टि है जिसका आधार संपूर्ण मानवता से प्रेम है। वे देशभक्त थे, लेकिन शांतिप्रिय और विशाल हृदय मानवतावादी भी थे। जे एच होम्स ने उनके बारे में लिखा था, 'गांधी, गौतम बुद्ध के बाद महानतम भारतीय थे और ईसा मसीह के बाद महानतम व्यक्ति थे।' यह सच है कि बौने उनका कद नहीं माप सकते।

गांधी ने कहा था, 'महात्मापन मेरे ऊपर एक बोझ है' और यह भी लिखा था, 'गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है और मैं अपने बाद कोई संप्रदाय छोड़ कर जाना नहीं चाहता' (हरिजन, 1936)। उन्होंने माना था, 'मुझमें कई असंगतियाँ हैं, लेकिन चूंकि लोग मुझे महात्मा कहते हैं, इसलिए मैं इमर्सन की उक्ति को साधिकार दुहराते हुए कह सकता हूँ कि मूर्खतापूर्ण सुसंगति छोटे दिमागों का हौवा है।' (यंग इंडिया, 1930)। किसी भी ऐतिहासिक युग में जब नए विचार आते हैं, खास कर जोखिम भरे आंदोलनों के भीतर से, तो वे कई कठोर चौखटे तोड़ते हुए और कई विरोधी तत्वों को शामिल करते हुए आते हैं। इसलिए सब कुछ तार्किक संगति के साथ नहीं होता। ऐसे विचारों की केंद्रीय भावना या मंशा को समझा जाना चाहिए। जड़तापूर्ण सुसंगति की तुलना में कुछ अंतर्विरोधों और असंगतियों से भरे ऐसे विचार ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं, जिनमें मनुष्य जीवन को भय से मुक्त कर नई गति देने की शक्ति होती है।

गांधी ने विरोधाभासों से भरे भारत को गहराई से समझा था, इसलिए उनके विचारों में यदि भारत की

सांस्कृतिक अंतरात्मा की रोशनी है तो यह स्वाभाविक है और यदि आज वह रोशनी किसी धुएं में बुझ-सी रही है तो यह चिंताजनक है।

गांधी आस्थाशील थे, पर उनकी हर आस्था गहरे संदेहों से छन कर बनी थी। उसमें कूपमंडूकता नहीं थी। वे अपने खोजे सत्य को 'अंतःकरण की आवाज' कहते थे। आज सामंती कट्टरतावाद हो या नव-औपनिवेशिक उपभोक्तावाद, यह मनुष्य का अंतःकरण उजाड़ता जा रहा है। बाहरी आजादी के सुंदर दृश्यों के बीच हमारा अंतःकरण उपनिवेशित है। हम बहुत सी उच्च अनुभूतियों और मूल्यों को खोते जा रहे हैं।

गांधी कहते थे, 'मेरी अंतरात्मा की आवाज मुझसे कहती है, तुम्हें सारी दुनिया के विरोध में खड़ा होना है, भले ही तुम अकेले पड़ जाओ। दुनिया तुम्हें आग्नेय दृष्टि से देखे, मगर तुम्हें उनसे आंख मिला कर खड़े रहना है। भय मत करो। अपनी अंतरात्मा की आवाज पर भरोसा करो।' गांधी ने एक बड़ा काम किया, उपनिवेशवाद का सामना करने के लिए साधारण लोगों के दिलों से भय मिटाया, भारतीय अंतरात्मा की चुप्पी तोड़ी। भारत के करोड़ों लोगों को लगा कि गांधी की आवाज उनकी अपनी आवाज है। ऐसा भारत के इतिहास में पहली बार हुआ।

गांधी कहते थे, 'सिद्धांतहीन राजनीति, श्रम के बिना धन, विवेक की स्वीकृति के बिना आनंद, चरित्र के बिना ज्ञान, नैतिकता के बिना व्यापार, मनुष्यता के बिना विज्ञान, अहं के त्याग के बिना पूजा-पाठ -ये सात पाप हैं।' (यंग इंडिया, 1928)। इस कथन से उनके सोच और सपनों की झलक मिलती है और स्पष्ट होता है कि 'पाप' का अर्थ बुराई है। आज के जमाने में, कहा जा सकता है, ये सातों बुराइयाँ चरम पर हैं। यह 'सभ्यता का पतन' है जिसकी वजह से लोग अभूतपूर्व तकलीफों से गुजर रहे हैं।

बिहार में भूकंप (1934) आने पर जब गांधी ने इसे 'पाप का फल' कहा था, रवींद्रनाथ और

प्रेमचंद दोनों ने इस कथन पर आपत्ति की थी। उन्होंने इसे अंधविश्वास का प्रचार बताया था, हालांकि आशिस नंदी जैसे समाजवैज्ञानिकों ने इस कथन को वस्तुतः बिहार के विकराल जातिवाद पर की गई चोट के रूप में देखा। यह प्रश्न है कि क्या धार्मिक शब्दावलियों से उच्च राष्ट्रीय-बुद्धिवादी अभिप्रायों की अभिव्यक्ति हो सकती है? आमतौर पर गांधी ने यही शैली अपनाई थी। इस देश में बुद्धिवादियों की उच्छेदवादी शैली को जनता के ऊपर ही ऊपर गुजर जाते देखा गया है। यहाँ न अंततः कट्टरतावाद टिक पाता है और न उच्छेदवाद चल पाता है, जो भारत की महानता है।

रवींद्रनाथ और गांधी विपरीत ध्रुव पर रख कर देखे गए हैं। वे किन भूमियों पर मिलते हैं, यह भी देखा जाना जरूरी है। दरअसल दोनों ही न कट्टरतावादी हैं और न उच्छेदवादी। दोनों का जोर गांवों की उन्नति पर है, विश्व शांति और भयमुक्त समाज पर है। दोनों अहिंसा को मानते हैं और घृणा के विरुद्ध प्रेम के पक्ष में हैं। रवींद्रनाथ का अंतरराष्ट्रीयतावाद और गांधी का राष्ट्रवाद आपस में टकराते दिखते हुए भी एक-दूसरे के कहीं 'अनुपूरक' हैं। ऐसा कुछ महसूस होने पर ही गांधी ने रवींद्रनाथ को मतभेद के बावजूद 'गुरुदेव' और रवींद्रनाथ ने गांधी को 'महात्मा' कहा होगा। मतभेद के बावजूद वे संवाद करते थे, वैसी संवादधर्मिता आज गुम है। क्या वैसा मन फिर बनना है?

भारत में लोगों को लंबे-लंबे समय तक हिंसा और भय की छाया में रहना पड़ा है, लेकिन नए दौर में वैचारिक संकीर्णता से जन्मी हिंसा के जो नए रूप हैं, वे लालच और क्रोध में की गई हिंसा से ज्यादा खतरनाक हैं। ऐसे समय में भारत का मन बेचैनी से गांधी को ढूंढ रहा है।

गांधी के जीवन के अंतिम पांच-छह महीने काफी महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। उन्होंने 1947 में चेतावनी दी थी, 'अ-धर्म ने ही धर्म का मुखौटा पहन लिया है।' 1947 के अगस्त महीने के आखिरी दिनों में जब कलकत्ते में दंगा भड़का, गांधी ने 1

सितंबर से अनशन शुरू कर दिया। राजगोपालाचारी ने मना करते हुए कहा, 'गुंडों के लिए आप अनशन करेंगे?' गांधी ने जवाब दिया, 'इन गुंडों को तो हमने ही पैदा किया है!'

12 जनवरी 1948 को अपने जीवन के अंतिम अनशन के समय गांधी ने कहा था कि किसी भी भारतवासी को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि भारत बहुसंख्यकों का देश है और अल्पसंख्यक दूसरे दर्जे के नागरिक हैं। गांधी को किसी की जन्मतिथि याद नहीं रहती थी, पर 23 जनवरी 1948 को सुभाष चंद्र बोस के जन्मदिन पर, अर्थात् अपनी हत्या के एक सप्ताह पहले उन्होंने कहा था, 'सुभाष किसी किस्म की प्रांतीयता में विश्वास नहीं करते थे। वे सांप्रदायिक भेदभाव नहीं मानते थे। पूरे भारत के विभिन्न धर्मों के पुरुष और स्त्रियां उनकी फौज में शामिल थे। उन्होंने इन सभी के बीच प्रेम और विश्वास पैदा कर दिया था।' (द नेशन ऐज मदर, सुगत बसु)। धर्म को मानते हुए भी गांधी, सुभाष जैसे व्यक्तित्वों ने जिस धर्मनिरपेक्षता को भारतीय अंतरात्मा का स्वाभाविक गुण बना दिया था, उसका टायर पिछले दशकों में भ्रष्टाचार ने पंचर कर दिया। नतीजतन राष्ट्र की गाड़ी दुर्घटनाग्रस्त है, समावेशी राष्ट्रीयता संकट में है और हर जगह अद्वैतवादी-एकरेखीय राष्ट्रवाद या नरबलि जैसी 'पवित्र हिंसा' का बोलबाला है!

आज धर्मनिरपेक्षता देश में सिर्फ संविधान के बल पर टिकी है, वह राजनीतिक तौर पर पराजित है। धर्मनिरपेक्षता धर्म को छोड़ना नहीं है, धर्म में सही अर्थ की प्रतिष्ठा करना है। इसे उच्छेदवादी दृष्टिकोण के रूप में ग्रहण करने वाले बुद्धिजीवी सिर्फ मुट्ठी भर बौद्धिक एलीट को ही थोड़ा-बहुत प्रभावित कर पाए हैं, जन साधारण को नहीं। इसलिए धर्मनिरपेक्षता वस्तुतः भेदभाव, असहिष्णुता और हिंसा को मिटाना है, जो वर्तमान समय के नए सत्ता विमर्श हैं। धर्मनिरपेक्षता राजनीतिक रूप से पराजित है, पर नैतिक रूप से अब भी लड़ रही

है, क्योंकि यह मानवता का एक अपरिहार्य गुण है।

गांधी ने एक महत्वपूर्ण बात कही थी, 'पराजय मुझे हतोत्साहित नहीं कर सकती। यह केवल मुझे सुधार सकती है।' क्या पराजय आज के बुद्धिजीवियों और नेताओं में कहीं सुधार ला पा रही है?

धर्मनिरपेक्षता के टायर में भ्रष्टाचार ही नहीं, अलग-अलग स्वार्थ, बिखराव, सुविधावाद तथा अन्य कई तरह के छेद हो गए हैं। धर्मनिरपेक्षता बेईमानी का शरणस्थल नहीं है, यह अपनी नैतिक आवाज खो कर खोखली होती है।

आज दरअसल धर्म और धर्मनिरपेक्षता दोनों रुग्णावस्था में हैं जिसकी पीड़ा आम जनता सह रही है। कहा जा सकता है कि कट्टरताओं की चट्टान के नीचे दबे भारतीय सांस्कृतिक अंतःकरण को फिर से जगाना और मुखर करना होगा। उसकी रोशनी को धुएं से बाहर निकालना तभी संभव है, जब पराजित सोचेंगे।

गांधी को 1946 में एक बार अपने पर संदेह हो गया था कि उनकी बात कोई नहीं सुनता है। उन्होंने आत्मनिरीक्षण किया, क्या उनके नैतिक बल में कोई कमी है? कभी-कभी संदेह करना जरूरी होता है, आत्मौचित्य स्थापित करने की जगह। क्या पराजित सोच सकते हैं कि वे क्यों पराजित हुए? यदि वे आत्मविमुग्ध हैं तो ऐसा नहीं कर सकते। इस तरह धर्म, बाजार और राजनीति इन तीनों जगहों पर संदेह ही मुक्तिद्वार है। संदेह ही आत्ममुग्धता और आत्मविस्मृति से बाहर निकालता है, सोये से जगाता है। निश्चय ही उदार, समावेशी और धर्मनिरपेक्ष सज्जनों को स्पष्ट करना बाकी है कि वे अब घिसी-पिटी पुरानी राहों पर नहीं हैं और कुछ सुधर रहे हैं।

गांधी को आदर देने के लिए राजघाट जाना काफी नहीं है। यह कामना की जा सकती है कि राजघाट जाने वालों में गांधी का चरित्र पांच प्रतिशत भी लौटे। उनकी बुद्धिपरक समझदारी और ईमानदारी के बीच तलाक है, वह खत्म हो। देश जहाँ खड़ा है, महात्मा गांधी का नाम लेने में जोखिम है!

शंभुनाथ

पति, पत्नी और पिता संजय कुंदन

वे रेस्तराँ के एक कोने की टेबल पर बैठे थे, जहाँ सबसे कम रोशनी थी। दोनों की उम्र 30 से 32 के बीच थी। लड़के का नाम रोहित था और लड़की का नाम आस्था। वे भी आसपास बैठे कॉलेजिए जोड़ों जैसे ही दिख रहे थे। उन्हें देख कर कोई सोच भी नहीं सकता था कि वे पति-पत्नी हैं। इस रेस्तराँ में पति-पत्नी कम ही आया करते थे। यहाँ नौजवान प्रेमी जोड़ों को पर्याप्त अंधेरा और फुर्सत मिलती थी। और स्वतंत्रता भी।

आस्था काफी तमतमाई हुई लग रही थी, जबकि रोहित एकदम निश्चित। यह भी इस रेस्तराँ के लिए कोई नई बात नहीं थी। यहाँ रूठने-मनाने का खेल चलता रहता था। अक्सर लड़का या लड़की में से कोई नाराज दिखता और दूसरा उसे मनाने में लगा रहता। जब वे जाते तो उनके चेहरे खिले होते।

रोहित ने कहा, 'लगता है हम उसी टेबल पर बैठे हैं।'

आस्था ने एक ठंडी नजर उस पर डाली।

'यह वही टेबल है न जब हम सगाई के बाद पहली बार कहीं बाहर घूमने निकले थे, तो यहीं आए थे और इसी टेबल पर बैठे थे..?' रोहित ने यह कह कर आस्था की प्रतिक्रिया भांपने की कोशिश की। आस्था पर उसका कोई असर नहीं पड़ा। लेकिन रोहित अतीत से बाहर निकलना नहीं चाह रहा था, 'याद है, तुम कितना शरमा रही थी। हमलोग बड़ी देर तक यह तय नहीं कर पा रहे थे कि क्या खाएँ।'

तब तक धीरे-धीरे चलता हुआ एक अधेड़ वेटर आ पहुँचा, 'क्या लेंगे?'

'रुको अभी।' रोहित के यह कहने पर वह वेटर अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराता हुआ चला गया।

'क्या लोगी?'

'तुम्हारा जो जी करे।' आस्था का पारा लुढ़कने का नाम नहीं ले रहा था।

रोहित ने वेटर को इशारे से बुलाया और कहा, 'दो कोल्ड कॉफी।' फिर आस्था की ओर मुड़ कर उसने कहा, 'पहली बार भी हमने कोल्ड कॉफी ही पी थी।'

'पी होगी।' यह कह कर आस्था ने एक लंबी सांस ली।

'तुम्हें सचमुच याद नहीं?' रोहित आस्था का गुस्सा कम करने की कोशिश में लगा था।

'मैं यहाँ रोमांटिक बात करने नहीं आई हूँ।' आस्था ने यह कहा और पर्स से रूमाल निकाल कर अपना मुँह पोंछा।

‘हमलोग यहाँ क्यों आए हैं?’ रोहित ने थोड़े नाटकीय अंदाज में पूछा।

‘क्या करें। घर में चैन से बैठ कर बात भी नहीं कर सकते ना।’

‘पापा हर वक्त कान लगाए हमारी ही बात नहीं सुनते रहते।’

‘फिर भी उनकी मौजूदगी में मैं अपने को फ्री महमूस नहीं कर पाती।’

‘यार, डेढ़ साल से ज्यादा हो गए। अब तो आदत पड़ जानी चाहिए।’

‘ऐसा तब होता है जब अगला भी इस बात को समझे। वह भी कंप्रोमाइज करे। मैंने देख लिया, वो बदलने वाले नहीं हैं।’

‘मतलब यह कि मैं अपने पापा यानी तुम्हारे ससुर को कहूँ- गेट आउट। आप इस घर से चले जाइए।’ रोहित ने जब यह कहा तो उसकी कनपटी के पास एक नस फड़फड़ाई। उसका चेहरा भी थोड़ा लाल हो गया। अब तक उसके ऊपर शरारत का जो भाव था, वह उड़न-छू हो चुका था।

आस्था कहने लगी, ‘यह बात हम लोग कई बार कर चुके हैं। बार-बार इसे दोहराने से कोई फायदा नहीं है। अब यह फाइनल करना है कि उन्हें यह बात किस तरह से कही जाए।’

‘यही तो समस्या है। यह बात मैं उन्हें सीधे-सीधे नहीं कह सकता। एक बार कह के देख चुका हूँ न। दौरा पड़ गया उन्हें।’

‘वह सब नाटक था। डॉक्टर ने साफ कहा कि उन्हें कुछ नहीं हुआ है। सब कुछ नॉर्मल था उनका। जाना न पड़े, इसलिए उन्होंने बीमारी का बहाना किया।’

‘हो सकता है, वह बहाना न भी हो। फिर भी मान लो वैसा ही हो गया तो।’

‘किस मिट्टी के बने हैं पापा जी! अरे, हमारे दोस्तों के माँ-बाप दिल्ली में टिकना नहीं चाहते। उन्हें घुटन होती है यहाँ। एक मेरे ससुर हैं कि इन्हें मजा आ रहा है। पहला बुजुर्ग देखा जो दिल्ली आकर जम गया।’

‘अरे भाई, वह अपने बेटे के यहाँ रह रहे हैं।

उन्हें अपने बेटे-बहू के साथ रहना अच्छा लग रहा है।’

‘हमलोग इस मुद्दे पर भी बात कर चुके हैं। मैं एक ही बात बार-बार दोहराना नहीं चाहती। इस बहस का कोई अंत नहीं है कि उनका हमलोगों के साथ रहना ठीक है कि नहीं, उन्हें यहाँ रहना चाहिए या नहीं। क्या अच्छा है, क्या बुरा, इस पर बात करने चलेंगे तो कहीं नहीं पहुँचेंगे। असली बात यह है कि मैं उनके साथ नहीं रह सकती। यह बात वे खुद नहीं समझ रहे। उन्हें समझाना है और तुम्हें ही समझाना है।’

‘मैं यह बात उन्हें कैसे कहूँ?’

‘हम फिर वहीं आ गए।’ आस्था ने झुंझला कर कहा।

वेटर दो कोल्ड कॉफी ले आया। उसने टेबल पर कॉफी रखने के बाद पूछा, ‘कुछ और लाऊँ फिंगर चिप्स वगैरह?’

‘ले आओ, ले आओ।’ आस्था ने अनमने ढंग से कहा। उसका उतावलापन साफ झलक रहा था। वह अपनी समस्या का झटपट कोई समाधान चाहती थी, पर रोहित उस दिशा में एक कदम आगे नहीं बढ़ रहा था।

कुछ देर तक दोनों कॉफी पीते रहे। बीच-बीच में वे अपने आसपास की टेबल की तरफ झाँक लेते थे। आस्था-रोहित की टेबल छोड़ कर हर टेबल पर हँसी-खुशी और रोमांस था। कहकहे थे, शरारत थी।

रोहित ने चुप्पी तोड़ी, ‘हाफ डे लेकर आई हो क्या?’

‘नहीं, बस एक घंटे के लिए चली आई हूँ। फिर जाना होगा।’

रोहित ने गला खरखार कर कहा, ‘क्यों न पापा के तक्रिए के नीचे एक लेटर लिख कर रख दूँ।’

‘देखो, यह बात नहीं है। असली बात समझने की कोशिश हम नहीं कर रहे हैं।’ इस बीच वेटर आकर फिंगर चिप्स रख गया। रोहित उत्सुकता से आस्था के चेहरे को देख रहा था। उसे लगा वह कोई बड़ा रहस्योद्घाटन करने वाली है।

संजय कुंदन

महत्वपूर्ण कथाकार और कवि। प्रकाशित कृतियाँ : कागज के प्रदेश में, चुप्पी का शोर, योजनाओं का शहर (कविता-संग्रह), बाँस की पार्टी, श्यामलाल का अकेलापन (कहानी-संग्रह), टूटने के बाद, तीन ताल (उपन्यास) नवभारत टाइम्स, दिल्ली में सहायक संपादक।



‘तुम क्या कह रही थी?’ रोहित ने पूछा।
‘देखो, हर बाप अपने बेटे के घर आता है। थोड़े दिन रहता है फिर चला जाता है। लेकिन पापा जी तो आए और यहीं टिक गए।’
‘भाई अब वो रिटायर हो गए। माँ के गुजर जाने के बाद से अकेले ही चल रहे थे। अब उन्हें अपने बेटे के यहाँ अच्छा लग रहा है, तो इसमें कोई बुरी बात है क्या।’
‘कोई भी समझदार आदमी अपने बेटे-बहू के साथ चिपकता नहीं है।’
‘यानी पापा समझदार नहीं हैं।’ रोहित ने मुंह बना कर कहा और आलू का एक टुकड़ा मुंह में डाल लिया।
‘मैंने तुम्हें पहले ही कहा था कि हमें इमोशनल होकर नहीं, प्रैक्टिकल होकर सोचना है।’ यह कह कर आस्था ने भी आलू के टुकड़े मुंह में डाले।
‘मैं इमोशनल होकर नहीं सोच रहा हूँ। मैं भी प्रैक्टिकल होकर सोच रहा हूँ, लेकिन हमारे सारे पुराने फॉर्मूले फेल हो चुके हैं। कुछ नया सोचो।’
‘असल में हम बेसिक बातों पर नहीं सोच रहे।’
रोहित ने आस्था को गौर से देखते हुए कहा, ‘बेसिक बात से तुम्हारा क्या मतलब है?’
‘मतलब जड़ में जो बात है वह समझो।’
‘क्या है जड़ में?’
‘आजकल लोग अपने बेटे-बहू के हिसाब से खुद को ढाल लेते हैं। लोग अपने बेटे के यहाँ सोच कर जाते हैं कि वे बेटे के घर में रह रहे हैं। लेकिन तुम्हारे पापा मेरा मतलब है पापा जी इस तरह नहीं सोचते।’

‘वे किस तरह सोचते हैं?’
‘वे हमारे मकान पर अपना हक समझते हैं, क्योंकि इस मकान में उनका भी पैसा लगा हुआ है। तुमने उनसे ढाई लाख रुपए लिए थे न। इसलिए वह इस घर में ताल ठोंक कर रहते हैं।’
रोहित इस तरह आस्था का मुंह देख रहा था जैसे उसने विस्फोट कर दिया हो। फिर वह कुछ सोच कर बोला, ‘लेकिन उनका अपने बेटे पर भी तो कोई हक है कि नहीं?’
‘है, लेकिन उस तरह का नहीं। जैसे देने के बाद दूसरी तरह का हक हो जाता है। वे कह सकते हैं कि उनका भी इस फ्लैट को बनवाने में योगदान है तो वे क्यों न रहें? वे इसके पंद्रह प्रतिशत का मालिक हैं।’
रोहित का असमंजस बढ़ता जा रहा था। आस्था ने कहा, ‘तुमने उनसे पैसे लेकर गलत किया।’
‘अरे तो मैं क्या करता। होम लोन पचासी प्रतिशत ही मिलता है। बाकी डाउन पेमेंट कैश में ही करना था न। कहाँ से देता।’
‘मार्केट से ले लेते।’
‘मार्केट से। तुम्हें पता है न आहूजा साहब ने मार्केट से ही पैसा उठाया था। अभी तक सूद भी नहीं चुका पाए हैं; मूलधन की तो बात ही छोड़ो। हर महीना किस्तों में पैसे चुका रहे हैं। एक बार पैसे देने में थोड़ी देर हुई तो घर पर दो गुंडे चले आए। बेचारे रो रहे हैं कि पता नहीं कब पिंड छूटेगा।’
इसका कोई जवाब आस्था को नहीं सूझा। कुछ देर चुप रहने के बाद उसने कहा, ‘जानते हो, तुम पापा से क्यों नहीं कुछ कह पाते हो। इसलिए

कि तुमने उनसे पैसे ले रखे हैं।' रोहित ने आश्चर्य से आस्था को देखा। उसने सोचा वह तो इसलिए कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह पापा की इज्जत करता है। आस्था कह रही थी, 'तुम पैसे लौटा दो। फिर देखो। तुम्हारी झिझक खत्म हो जाएगी।'

'मतलब मैं उनसे कहूँ कि ढाई लाख लेकर हमें छोड़ दीजिए।'

'रोहित, तुम चीजों को फिर उसी रूप में ले रहे हो। तुम जरा भी व्यावहारिक नहीं हो। एक समय के बाद दुनिया इसी तरह चलती है। रिलेशनशिप बदल जाती है। हमारे कलीग हैं गुप्ता जी। उनकी नौकरी उनके पिता जी ने सिफारिश करके लगवाई। मकान पिता जी ने बनवा कर दिया। नतीजा यह है कि हर समय वे पिता जी-पिता जी करते रहते हैं। पिता जी कहें तो उठ, पिता जी कहें तो बैठा। कभी इसलिए छुट्टी लेते हैं कि पिता जी को तीर्थयात्रा करानी है, तो कभी इसलिए कि पिता जी के बचपन के मित्र आए हुए हैं- उनकी खातिरदारी करनी है। ऐसे लोगों की कभी अपनी पर्सनैलिटी बन नहीं पाती। पिता हावी इसलिए रहते हैं कि बेटे को लेकर सारे फैसले वे ही करते हैं। जो बेटे पूरी तरह अपने दम पर जीते हैं, उनके घर इस तरह बाप की नहीं चलती। जहाँ भी बेटा किसी मामले में झुका, वहाँ उसे और झुकाया जाता है। यह ह्यूमन साइकॉलॉजी है। जो लोग अपने गार्जियन से कुछ न कुछ लेते रहते हैं, उन्हें थोड़ा झुक कर चलना ही पड़ता है। हमें पापा जी से कुछ नहीं चाहिए। हमें तो शांति और सुकून चाहिए, प्राइव्सी चाहिए। मैं अपने ढंग से जीना चाहती हूँ। मेरे कुछ सपने हैं। हमारा घर छोटा है, लेकिन मैं उसे अपने ढंग से रखना चाहती हूँ। और पापा जी के रहने से मेरे इस सपने में रुकावट आ रही है। ...और ऐसा नहीं है कि पापा जी लाचार और मजबूर हैं। उनका अच्छा-खासा घर है, जिसमें वे वर्षों से अकेले रहते आए हैं। उन्हें अच्छी-खासी पेंशन मिलती है।'

रोहित आस्था को देखे जा रहा था। लग रहा था, जैसे आस्था उसकी शिक्षक हो और वह उसका विद्यार्थी। तभी वेटर फिर आया और उसने

उसी अंदाज में पूछा, 'और कुछ लाऊँ?'

आस्था ने कुछ झिड़कने के से अंदाज में कहा, 'नहीं, नहीं।' वेटर ग्लास वगैरह लेकर चला गया। आस्था ने बात शुरू की, 'तो मैं यही कह रही थी कि उन्हें पहले उनके पैसे लौटा दिए जाएँ।'

'और उसके बाद भी वह नहीं गए तो।'

'तुम तो हर चीज में केवल निगेटिव ही सोचते हो।'

'लेकिन उन्हें क्या कह कर पैसे दिए जाएँ- लीजिए अपना पैसा वापस?'

'उसका तरीका मैंने सोच लिया है। उनका जन्मदिन आ रहा है न। बस हम उन्हें ये पैसे गिफ्ट कर देंगे।'

'लेकिन ढाई लाख रुपये मैं लाऊँ कहाँ से। हमारे अकाउंट में नहीं हैं।'

'हम दोनों थोड़ा-थोड़ा पर्सनल लोन ले लेते हैं। बैंक वाले ऑफर भेजते ही रहते हैं।'

'तुम पैसा बर्बाद करवाओगी। कहाँ मैंने सोचा था कि कार खरीदूंगा। अब तो दफ्तर में सबने ले ली। वो मेरा जूनियर दीपक है न, उसने भी खरीद ली। कब तक बाइक से चलूंगा।'

'कार के बारे में बाद में सोचेंगे। जो मैंने कहा है वैसा करो। क्या तुम नहीं चाहते कि मैं थोड़ा सुकून से रहूँ?'

रोहित ने इसका जवाब नहीं दिया। वह उसे देखता रहा। आस्था ने घड़ी देखी और खड़ी हो गई, 'अब मैं चलती हूँ।'

रोहित ने वेटर को बिल लाने के लिए कहा। उसने पैसे चुकाए और आस्था के पीछे-पीछे बाहर आया। आस्था ने एक ऑटोरिक्शा वाले को आवाज दी और उसमें झट से बैठ कर चली गई।

रोहित ऑटोरिक्शा को तब तक देखता रहा, जब तक वह आंखों से ओझल नहीं हो गया। फिर वह बड़ी देर तक यूँ ही सड़क के किनारे खड़ा रहा। लग रहा था जैसे दिमाग खाली हो गया हो। सोचने-समझने की शक्ति ही खत्म हो गई हो।

उसने बाँस को पहले ही कह दिया था कि वह जरूरी काम से जा रहा है, लौट कर आएगा नहीं।

लेकिन कहाँ जाए वह? घर पर पापा मिलेंगे, जिनसे वह शायद अभी आंख तक न मिला पाए। वह सड़क पार कर एक पार्क में आकर बैठ गया। यहाँ से सड़क का नजारा दिखता था। चारों तरफ ऊंची-ऊंची इमारतें दिख रही थीं। बीच में एक फ्लाईओवर था, जिस पर तेजी से गाड़ियाँ दौड़ रही थीं। सड़क के एक कोने पर कबूतरों का झुंड मंडरा रहा था। उसका झुंड कभी ऊपर जाता, तो कभी नीचे आता। वे एक लय में उड़ रहे थे। दूसरे कोने पर एक विशालकाय मशीन शोर कर रही थी। खुदाई का काम चल रहा था। मेट्रो की सुरंग बनाई जा रही थी।

दोपहर खत्म होने को थी, लेकिन उमस कम होने का नाम नहीं ले रही थी। रोहित को लग रहा था, जैसे एक अदृश्य बोझ उसके सिर पर रख दिया गया हो।

कितनी आसानी से सब कुछ कह कर निकल गई आस्था। ढाई लाख रुपए दे दो और पिता को चलता कर दो। क्या यह इतना आसान है? क्या उसका रिश्ता किसी सौदे से बंधा है? तब तो ढाई लाख ही क्यों, अब तक पापा ने जितना पढ़ाई-लिखाई, कपड़े-लत्ते, दवा आदि पर खर्च किए, वह सब लौटाओ।

आस्था ऐसा कैसे सोच सकती है। क्या रोहित उसे ठीक से समझ नहीं पाया है? वह तो बड़ी ही संवेदनशील लड़की है। फिल्मों में इमोशनल दृश्य देख कर उसकी आंखें भर आती हैं। अखबार में किसी गरीब के साथ अत्याचार की खबर से वह कई दिनों तक डिस्टर्ब रहती है। इतनी संवेदनशील लड़की पापा को लेकर इतना सख्त कैसे हो सकती है। क्या वह पापा को नहीं समझती? जिस आदमी की पत्नी गुजर गई हो, जिसने एक लंबा समय अकेले गुजारा हो, वह अपना अकेलापन अपने बेटे-बहू के साथ रह कर दूर कर रहा हो, तो इसमें गलत क्या है? अपने एकमात्र बेटे के घर पर कोई अपना हक क्यों न समझे। और ऐसा क्या करते हैं पापा। वह तो अपने कमरे में पड़े रहते हैं।

उसके पापा रतनलाल वर्मा। राज्य सरकार के

सिंचाई विभाग की नौकरी से रिटायर होते ही बोरिया-बिस्तर लेकर गोरखपुर से दिल्ली चले आए। हालांकि गोरखपुर में उन्होंने अपनी सारी कमाई झोंक कर एक मकान बनवा रखा था। उस समय उनकी योजना सेवानिवृत्ति के बाद वहीं रहने की थी, लेकिन रोहित की माँ की मौत के बाद उनकी सोच बदल गई। उनके आने से रोहित को बड़ी खुशी हुई थी। राजधानी में वह अपने को अकेला महसूस करता था। शादी के बाद उसका अकेलापन कुछ कम हुआ था, पर पापा के आने से उसे एक तरह की पूर्णता का बोध हो रहा था। वह अपने को सुरक्षित महसूस कर रहा था।

दूसरी तरफ आस्था यह मान कर चल रही थी कि पापा कुछ दिन रह कर शायद चले जाएँ क्योंकि आसपास के घरों में ऐसा ही होता था। बुजुर्ग कुछ दिन रहते थे, फिर चले जाते थे। पता नहीं क्यों, वह इस बात को स्वीकार नहीं कर पा रही थी कि उनके साथ पापा भी रहें, जबकि पापा के आने से कई तरह की सहूलियतें हो गई थीं।

आस्था का कहना था कि पापा की वजह से वह अपने ढंग से रह नहीं पाती। उसकी शिकायत थी कि पापा के चलते रोज फ्रेश नाश्ता तैयार करना पड़ता है। वह फ्रिज में रखी रात की कोई चीज नहीं खाते। उन्हें हर समय ताजा गर्म खाना चाहिए। वे इस मामले में जरा भी समझौता नहीं करते। लगते हैं स्वास्थ्य पर भाषण देने। इस समस्या के समाधान के लिए खाना बनाने के लिए कामवाली रखी गई, लेकिन पापा को उसका खाना ही पसंद नहीं हो पाया। वह रोज उसे ही लेक्चर देते। उकता कर उसने आना ही छोड़ दिया। एक-दो दिन तो उत्साह में पापा ने खुद नाश्ता बनाया, लेकिन जल्दी ही ढीले पड़ गए। फिर सब कुछ आस्था के सिर आ गया।

यही प्रॉब्लम है उस पीढ़ी का। वह अपनी आदतें बदलने को तैयार नहीं होती। उसे अहसास ही नहीं है कि समय बदल गया है। अरे एकाध बार खा लीजिए न बासी खाना। क्या फर्क पड़ता है। रात की बनी चीज सुबह क्यों नहीं खाई जा

सकती? दुनिया भर के लोग यही करते हैं। फिर रेफ्रिजरेटर है किसलिए? लेकिन नहीं। इस मामले में आस्था की शिकायत सही है। पापा बाहर का खाना भी खाने नहीं देते। कई बार रोहित और आस्था देर से लौटते हुए किसी रेस्टोरेंट से खाना पैक करा लेते हैं। पापा को यह मंजूर नहीं। लगते हैं उसमें मीन-मेख निकालने। पिज्जा खाने से पेट पकड़ लेता है, तो चाउमीन खाने से लिवर खराब हो जाता है। अरे भाई, कभी-कभार खा लेने में क्या दिक्कत है? आखिर समय के साथ पुरानी जेनरेशन बदलने को तैयार क्यों नहीं है?

पापा रोहित की माँ से आस्था की तुलना करते हैं। माँ बहुत फुर्तीली थी, हर समय कोई भी काम करने में आलस्य नहीं करती थी। लेकिन पापा यह क्यों नहीं देखते कि माँ नौकरी करने नहीं जाती थी। आस्था को नौकरी पर जाना होता है। वह नौकरी और सड़क के तनाव एक साथ झेलती है। ऊपर से घर का 70 से 80 फीसदी काम उसे ही करना होता है।

आस्था की इस बात में तो दम है कि पापा के आने के पहले वे दोनों लोग कितना फ्री रहा करते थे। कई बार देर तक सोए रहते थे। अब एक दबाव-सा हो गया है। पापा जल्दी उठने के लिए तो नहीं कहते, लेकिन खुद जल्दी उठ कर घर में खटर-पटर करने लगते हैं। कई बार कहा कि 'आप उठिए और बाहर टहलने चले जाया कीजिए।' लेकिन वह कहाँ मानते हैं। इस तरह घर में चप्पल घसीट-घसीट कर चलते हैं कि नींद टूट ही जाती है। अब उनके कारण सचेत रहना पड़ता है। पहले रोहित और आस्था के कई दोस्त आ जाते थे। खूब बातें होती थीं, हँसी-मजाक चलता था। देर रात तक गप्पें मारते थे। अब पापा के कारण दोस्तों ने आना छोड़ दिया। आते भी कैसे। जो आता है, पापा उसके पीछे पड़ जाते हैं। एक बार तो एक दोस्त का इंटरव्यू ही ले डाला उन्होंने, क्या करते हैं; पिता जी क्या करते हैं; भाई क्या करते हैं। उसके बाद तो उसने आना ही बंद कर दिया। उसने ही और लोगों को यह बात बताई

होगी। तभी तो सब आने से हिचकते हैं।

ठीक कहती है आस्था। अरे, हमारी भी कोई जिंदगी है। कभी तो हम अपने तरीके से जिएँ। उन्होंने हमें पढ़ाया-लिखाया, सब कुछ दिया। इसका मतलब थोड़े ही है कि वह हमें जीने नहीं देंगे। उन्होंने भी अपने समय में मौज किए हैं। अब हमारी राह में रोड़े क्यों अटका रखे हैं। उन्हें खुद सोचना चाहिए कि हमारी खुशी किस चीज में है।

शुरू-शुरू में रोहित को लगता था कि पापा बहुत भोले हैं। कुछ समझते नहीं, लेकिन अब उसे ऐसा नहीं लगता। उसे याद है जब एक बार उसने उनसे कहा था कि 'आप दशहरा में घर क्यों नहीं चले जाते। हर साल आप वहाँ रहते हैं। इस बार वहीं त्योहार मनाइए।' वह तैयार हो गए, लेकिन जिस दिन जाना था, उस दिन अचानक सिर में चक्कर आ गया। उन्होंने फोन करके रोहित को बुलाया। रोहित भागा हुआ घर आया। पापा की हालत को देखते हुए उन्हें अस्पताल ले जाना जरूरी था। उसने एंबुलेंस बुलाई और पास के एक नर्सिंग होम में ले गया। वहाँ अस्पताल वालों ने हर तरह के टेस्ट करवा दिए, लेकिन पापा उस सबसे पहले ही ठीक हो गए थे। थोड़ी देर बाद ही वे नर्सिंग होम के सभी स्टाफ से हँसी-मजाक करने लगे। रोहित ने दो डॉक्टरों को आपस में बात करते सुना था। उनमें से एक कह रहा था कि इस आदमी को कुछ हुआ नहीं है। जरूर इसका बेटा मेडिकल बिल बनाने के लिए इसे ले आया है। रोहित को विश्वास नहीं हुआ। उस दिन से उसे शक होने लगा कि पापा ने जरूर नाटक किया था। आखिर वह यहाँ से खिसकना क्यों नहीं चाहते। इस बात से नाराज होकर आस्था अपने मायके चली गई थी। उसने अलग रहने की धमकी तक दे दी थी। फिर इस बात पर समझौता हुआ कि उसके पापा भी इस घर में रहेंगे, लेकिन इससे मुसीबत और बढ़ गई। आस्था जिद करके अपने पिता जी को ले आई थी, पर दोनों बुढ़ों ने रोहित-आस्था का जीना हाराम कर दिया। रोहित और आस्था को उम्मीद थी कि आस्था के पिता जी

को देख कर रोहित के पापा बोरिया-बिस्तर समेट लेंगे। पर ऐसा नहीं हुआ। ड्राइंग रूम में दोनों समधियों ने बिस्तर लगा लिया। दोनों आधी रात में अचानक गप मारने लगते या ठहाके लगाने लगते। एक बाथरूम से निकलता, तो दूसरा घुस जाता और निकलने का नाम नहीं लेता। कई बार दोनों घूमने निकल जाते और रात के दो बजे लौट कर आते। कभी दोनों शतरंज या ताश लेकर बैठ जाते और उठने का नाम नहीं लेते। आस्था और रोहित खाने पर इनका इंतजार करते-करते परेशान हो जाते। कुछ दिनों के बाद आस्था के पिता चले गए।

एक बार पति-पत्नी ने लड़ाई का नाटक किया कि शायद उससे बुढ़ऊ समझ जाएँ। आस्था और रोहित ने बातचीत बंद कर दी। बीच-बीच में दोनों भुनभुनाते और कोई सामान पटक देते। फिर भी कोई असर नहीं हुआ। उल्टे पापा दोनों को अलग-अलग बिठा कर उपदेश देते। एक बार तो रोहित ने साफ कह दिया कि आस्था को आपका यहाँ रहना पसंद नहीं। इस पर पापा का कहना था कि वह ऐसा सोच ही नहीं सकती।

कहीं ऐसा तो नहीं कि बुढ़ऊ का कुछ चक्कर-वक्कर चल रहा है। आजकल कुछ भी संभव है। पापा लंबे समय से विधुर जीवन जी रहे हैं। पार्क में टहलने जाते हैं, लाफिंग क्लब के मेंबर हैं। किसी से दोस्ती-वोस्ती हो गई होगी। होगी कोई सिंगल वुमेन या विधवा। जरा हँस बोल कर बतिया लेती होगी, गद्गदा जाते होंगे रतनलाल वर्मा। नहीं तो और क्या हो सकता है। गोरखपुर जैसे छोटे शहर में लगभग पूरी जिंदगी काट देने वाले बुजुर्ग को दिल्ली में भला क्या मन लगेगा। यहाँ की घुटन भरी जिंदगी, लोगों का रूखापन भला क्यों रास आएगा उन्हें।

छी: अपने बाप के बारे में क्या सोच रहा है वह। पापा ऐसे आदमी नहीं हैं। बीमारी का भी नाटक नहीं किया होगा उन्होंने। हो सकता है तनाव से तबीयत बिगड़ गई हो। ब्लड प्रेशर बढ़ गया होगा। फिर यहाँ का मौसम भी तो दमघौंटू है।

हॉस्पिटल में पानी-वानी चढ़ाने से सब कुछ नॉर्मल हो गया होगा। उनके रहने से कई फायदे भी तो हैं। एक आदमी के घर में रहने के कारण घर की सुरक्षा रहती है। पिछले ही महीने पड़ोस के घर से चोर दिन-दहाड़े ग्रिल काट कर पैसे और जेवर लेकर भाग गए थे। दरअसल आसपास के सभी घरों में वर्किंग कपल रहते हैं। यह बात सबको मालूम है। कॉलोनी का एक बड़ा हिस्सा सूना रहने के कारण चोर सक्रिय रहते हैं, लेकिन आस्था और रोहित इसलिए निश्चिंत रहते हैं कि घर में पापा मुस्तैद रहते हैं। उनकी वजह से डाकिया और कोरियर वाले के आने पर कोई समस्या नहीं होती। रोहित को कई बार ऑफिस से लौटते हुए देर हो जाती है, पर वह परेशान नहीं होता, क्योंकि पापा घर पर रहते हैं। आस्था अकेली नहीं पड़ती। आस्था की तबीयत खराब होने पर खाना बनाने और घर के काम में पापा रोहित की मदद कर देते हैं। मेनटेनेंस का चेक देना हो, नल या बिजली खराब होने पर प्लंबर या इलेक्ट्रिशियन को बुलाना हो, यह सब काम पापा ही करते थे। अब अगर वो चले गए, तो भारी मुसीबत हो जाएगी। आस्था और रोहित अकेले पड़ जाएंगे। घर भी सूना हो जाएगा।

यह सोच कर रोहित घबरा उठा। उसकी धड़कन तेज चलने लगी। यह तो उसने सोचा ही नहीं था कि पापा के चले जाने पर क्या होगा। ये बातें वह पहले भी आस्था को समझा चुका है, पर उसके लिए तो यह सब कोई मुद्दा ही नहीं है।

ओह, पिता और पत्नी के बीच वह फंस कर रह गया है। उसने सोचा भी नहीं था कि ऐसा भी एक दिन आएगा जब किसी एक रिश्ते के लिए दूसरे रिश्ते का गला घोटना पड़ेगा। क्या करे वह? उसे लगा उसका सिर घूमने लगा है। उसने आंखें बंद कर लीं। अचानक उसे माँ की याद आई। बचपन में जब कोई समस्या सताती थी, तो वह माँ से उसका हल पूछता था। माँ को सब कुछ बता देने के बाद वह हल्का हो जाता था। पर अब तो माँ भी नहीं है। रोहित ने सिर झुका कर आंखें

बंद कर लीं।

जब काफी देर बाद उसने आंखें खोलीं, तो अंधेरा हो चुका था और सामने सड़क की बत्तियाँ चमक उठी थीं। मशीन का शोर थम गया था, लेकिन गाड़ियों का हल्ला-गुल्ला जारी था।

वह उठ खड़ा हुआ। उसे ध्यान आया कि उसने रेस्टोरेंट के पास वाली पार्किंग में अपनी बाइक खड़ी कर रखी है। वह तेज कदमों से आया और बाइक निकाल कर चल पड़ा।

अगले दिन से पापा के जन्मदिन की तैयारी शुरू हो गई। तय हुआ कि उन्हें कुछ न बताया जाए। सब कुछ एकाएक कर दिया जाए। तैयारी के ही क्रम में रोहित ने तीन लाख लोन के लिए अप्लाई कर दिया। ढाई लाख पिता जी को देने थे और पचास हजार कार्यक्रम पर खर्च होने थे। पहले तय हुआ कि कोई बैंकवेट हॉल बुक कर लिया जाए, पर उसमें खर्चा ज्यादा आ रहा था। फिर तय हुआ कि घर के सामने वाले पार्क में थोड़ा-बहुत घेर-घार कर पार्टी कर ली जाए। रेजिडेंट्स वेलफेयर एसोसिएशन से इसके लिए बातचीत कर ली गई। यह सारा आइडिया आस्था का था। रोहित बहुत ज्यादा तामझाम नहीं करना चाहता था। वह डर रहा था कि इतना सब कुछ देख कर तो बुढ़ऊ और लटक जाएंगे, लेकिन आस्था सुनने को तैयार ही नहीं थी। वह अलग तरीके से सोच रही थी। खैर, जन्मदिन से एक दिन पहले पापा को सब कुछ बताया गया। वह बहुत खुश हुए। उनकी खुशी से रोहित की आशंका और बढ़ गई। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि एक तरफ आस्था उन्हें टरकाना भी चाहती है, दूसरी तरफ ऐसा काम भी कर रही है, जिससे पापा का उन लोगों से मोह बढ़ जाए। अब रोहित ने अपना जी कड़ा कर लिया था। उसे लग गया था कि आस्था का साथ देने के सिवा उसके पास कोई चारा नहीं है। वक्त की मांग यही है कि वह पापा के प्रति अपने लगाव से मुक्त हो जाए। उन्हें उनकी किस्मत के साथ जीने के लिए छोड़ दे।

धूमधाम से जन्मदिन संपन्न हुआ। कॉलोनी के

तकरीबन सारे लोग आए थे। खास कर वे बुजुर्ग, जिनके साथ पापा उठते-बैठते थे। रोहित और आस्था ने अपने दफ्तर के खास लोगों को बुलाया था।

रतन लाल वर्मा जी ने केक काटा और सबसे पहले बहू को खिलाया, फिर बेटे को। जब सारा कार्यक्रम संपन्न हो गया, तो तय योजना के मुताबिक रोहित ने पापा से कहा, 'इस अवसर पर मैं आपको एक खास तोहफा देना चाहता हूँ। मैं सबके सामने नहीं दे सकता था, इसलिए अभी दे रहा हूँ।'

पापा ने आश्चर्य से देखा। रोहित ने उन्हें ढाई लाख वाला लिफाफा पकड़ा दिया। पापा हैरत में पड़ गए। लिफाफा खोल कर देखने लगे, तो रोहित किसी बहाने से वहाँ से निकल आया। सब सोने की तैयारी करने लगे।

बिस्तर पर जाने के बाद भी रोहित को नींद नहीं आई। वह सोच रहा था कि पापा के मन में न जाने क्या सब बातें आ रही होंगी। वह बाथरूम जाने के लिए उठ कर आया, तो देखा कि पापा अपने कमरे में नहीं हैं। रोहित ने बालकनी की तरफ झांका, तो देखा कि वह वहाँ खड़े बाहर देख रहे हैं। उन्होंने रोहित की आहट पहचान ली और मुड़ कर उसे बुलाया। रोहित थरथराते पैरों से उनके पास पहुँचा।

पापा ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, 'मैं तब से यही सोच रहा हूँ कि तुमने मुझे ढाई लाख ही क्यों दिए? दो क्यों नहीं, तीन क्यों नहीं।'

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उन्होंने कहा, 'बाप का कर्ज उतारना चाहते हो? उतार पाओगे? बहुत समझदार हो गए हो।' यह कह कर वह हँसे। फिर उन्होंने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा, 'जाओ, सो जाओ।'

रोहित चला आया। उसने सोच लिया था कि उसे पापा की बात पर भावुक नहीं होना है। उसने जो स्टैंड लिया है, उस पर अड़े रहना है। पापा ने समझदार वाली बात कह कर दरअसल इशारा किया है कि वह रोहित और आस्था की मंशा समझ गए हैं। यानी तीर निशाने पर लगा है। हो सकता है,

रोहित को कुछ कहने की जरूरत ही न पड़े। बुढ़ऊ खुद ही अपना बोरिया-बिस्तर समेट लें।

लेकिन बुढ़ऊ की हरकतों से ऐसा कोई संकेत नहीं मिला कि वे विदा होने वाले हैं, बल्कि अब वे और ज्यादा निश्चित लगने लगे थे। बात-बात में वे आस्था की तारीफ करते। बार-बार कहते कि जीवन में पहली बार उनका जन्मदिन मना, वह भी इतने शानदार तरीके से। यह सब बहू की वजह से हुआ। रोहित को लगा कि उसके पापा सब कुछ समझ चुके हैं इसलिए वे बार-बार आस्था की चमचागिरी कर रहे हैं, ताकि उनके जाने का कोई मामला ही न बने।

रोहित को अब तीन लाख रुपए की चिंता भी सता रही थी। अब हर महीने का 6-7 हजार ईएमआई कटना था। गाड़ी खरीदता तो संतोष रहता कि कार पर घूम रहा है, पर यह पैसा तो विशुद्ध पानी में चला गया। आस्था रोज उस पर दबाव डाल रही थी कि वह पापा से जाने की बात करे। आस्था ने ही इस बात का सूत्र दिया। तय हुआ कि रोहित पापा से कहेगा कि गोरखपुर वाला मकान इतने दिनों से बंद है। पता नहीं उसका क्या हाल हो रहा होगा। उसकी सफाई करवाइए, ठीकठाक करवाइए, ताकि हमलोग जल्दी ही गोरखपुर घूमने आएँ। आस्था अभी तक गोरखपुर नहीं गई थी।

रोहित को इस बात में दम नहीं लग रहा था, लेकिन वह क्या करता, उसके पास दूसरी बात भी नहीं थी, जिसके बहाने वह पापा से जाने के लिए कहता। रोहित ने कई बार रिहर्सल करने के बाद एक दिन दफ्तर जाते समय पापा से यह बात कह दी। पापा ने कहा, 'ठीक कहते हो।' यह सुन कर रोहित की खुशी का ठिकाना न रहा। उसने मन ही मन आस्था की बुद्धि की तारीफ की। आखिर ढाई लाख रुपए वाला फॉर्मूला क्लिक कर गया। उसी दिन शाम को पापा ने एलान किया कि वे गोरखपुर जाएंगे। उन्होंने तुरंत रोहित से अपना टिकट बुक कराने को कहा। फिर वे गोरखपुर में रहने वाले अपने रिश्तेदारों और पड़ोसियों के लिए उपहार

खरीदने बाजार चले गए। आस्था और रोहित उस रात सेलिब्रेट करने उसी रेस्तराँ में पहुँचे, जहाँ उन्होंने 'बुढ़ऊ भगाओ ऑपरेशन' की रूपरेखा तैयार की थी। रोहित खुश भी था और उदास भी। उसके मन में कहीं न कहीं अपराधबोध भी था कि वह अपने पिता को घर से निकाल रहा है। काफी दिनों के बाद वह आस्था को इतना खुश देख रहा था। रोहित को संतोष हुआ कि कम से कम आस्था तो खुश है। वह उसे हमेशा प्रसन्न देखना चाहता था।

लेकिन दूसरे दिन ऐसी घटना घटी कि जिसने उनकी खुशी पर पानी फेर दिया। रोहित जब प्रसन्न मन दफ्तर पहुँचा, तो अपनी सीट पर बैठते ही चपरासी ने कहा कि उसे जीएम साहब बुला रहे हैं। रोहित का माथा ठनका। आखिर ऐसी क्या बात हो गई? जीएम साहब उसे क्यों बुलाएंगे?

'तुम्हें कोई गलतफहमी तो नहीं हुई है?' रोहित ने चपरासी से पूछा।

चपरासी ने हँसते हुए कहा, 'आप भी कैसी बात करते हैं। इस ऑफिस में रोहित वर्मा कोई और है क्या?'

रोहित ने रूमाल से अपना चेहरा पोंछा और फिर जीएम साहब की केबिन में सहमते हुए घुसा।

'गुड मॉर्निंग सर!' रोहित ने कहा।

'गुड मॉर्निंग रोहित!' जीएम साहब ने उसे बैठने का इशारा करते हुए कहा।

रोहित सामने की कुर्सी पर बैठ गया। जीएम साहब बोले, 'रोहित, हमारी नागपुर यूनिट में कई तरह की प्रॉब्लम्स आ गई हैं। वहाँ के लोगों से काम संभल नहीं रहा। इसलिए हमने यहाँ के कुछ काबिल मैनेजर्स को वहाँ भेजने का फैसला किया है। तुम कल ही नागपुर चले जाओ।'

'लेकिन सर, मेरा यहाँ घर है। मेरी वाइफ यहाँ सर्विस करती है।'

'ठीक है, हम बाद में फिर बुला लेंगे। अभी चले जाओ। काम संभाल दो जाकर। ओके। ऑल दि बेस्ट।'

'थैंक्यू सर!' यह कह कर रोहित बाहर निकल

आया। फिर अपनी सीट पर आकर उसने आस्था को फोन मिलाया, 'यार, मेरा ट्रांसफर हो गया। कल ही नागपुर ज्वाइन करना है।'

'क्या?' आस्था की चीख निकल गई। फिर कांपते स्वर में कहने लगी, 'अरे मैं अकेले कैसे रह सकती हूँ। तुम भी चले जाओगे। पापा भी जा रहे हैं। मुझे तो डर लगेगा। कोई रात में घुस आया तो। नहीं-नहीं, मैं अकेले नहीं रह पाऊंगी।'

रोहित को ट्रांसफर की तैयारी के लिए जल्दी छुट्टी मिल गई। आस्था भी हाफ डे लेकर जल्दी ही चली आई। दोनों बैठ कर आगे की योजना बनाने लगे। रोहित ने कहा कि क्यों न आस्था भी थोड़े दिन की छुट्टी ले ले, लेकिन आस्था ने कहा कि अभी उसके दफ्तर में लंबी छुट्टी पर रोक है। फिर विचार आया कि क्यों न चौबीस घंटे के लिए किसी कामवाली को रख लिया जाए। फिर उन्हें याद आया कि उन्हीं के पड़ोस में एक कामवाली सारा सामान लेकर अपने एक दोस्त के साथ चंपत हो गई थी। फिर सोचा गया कि क्यों न किसी रिश्तेदार को बुला लिया जाए। इसके बस दो ही विकल्प थे, आस्था की मां और पिता जी। लेकिन पिछले दिनों आस्था के पिता के घुटने का ऑपरेशन हुआ था, इसलिए दोनों में से किसी का आना संभव नहीं था। अंत में थक-हार कर आस्था ने कहा कि पापा जी को जाने से रोका जाए। इस पर रोहित भड़क गया। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि ऐसा कैसे हो सकता है। इतनी मुश्किल से वे जाने को तैयार हुए हैं। इस बार रुके, तो फिर कभी नहीं जाएंगे। इस पर आस्था ने कहा, 'हमारे पास कोई चारा नहीं है। उनके रहने से घर में सेफ्टी तो रहेगी। फिर उनके बर्थडे फंक्शन के बाद से हमारे उनके बीच अच्छी केमिस्ट्री डिवेलप हो गई है।'

रोहित हैरान होकर आस्था को देखता रहा। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि यह कैसी लड़की है। इतना जल्दी इसका स्टैंड कैसे बदल सकता है। कल तक तो वह पापा को भगाने पर

लगी हुई थी। अब वह उन्हें रोकना चाहती है।

आस्था ने कहा, 'बी प्रैक्टिकल रोहित, चलो पापा से कहते हैं कि वह गोरखपुर जाने का प्लान कैसल कर दें।'

रोहित जड़वत खड़ा रहा। आस्था ने उसका हाथ पकड़ कर खींचते हुए कहा, 'अरे, वो मान जाएंगे। वे तो और खुश होंगे। वे मन से थोड़े ही जाना चाहते हैं। वे तो चाहते ही हैं कि हम उन्हें रोके। चलो। वे हमलोगों को बहुत प्यार करते हैं। वे हमारी बात जरूर मानेंगे।'

दोनों पापा के कमरे में आए। वे लेटे हुए एक पत्रिका पढ़ रहे थे। दोनों को देख कर वे उठ कर बैठ गए। रोहित और आस्था भी उनकी बगल में बेड पर बैठ गए। रोहित ने कहा, 'पापा, एक संकट आ गया है। मेरा ट्रांसफर नागपुर हो गया है। कल ही जाना है। आस्था अकेली कैसे रहेगी। उसको दिक्कत होगी।'

'अच्छा फिर?' पापा ने सब कुछ समझने की कोशिश करते हुए पूछा।

'पापा, हम चाहते हैं कि आप गोरखपुर न जाएं। कम से कम कुछ दिनों के लिए तो रुक ही जाइए। हो सकता है छह-सात महीने में मैं वापस आ जाऊँ, फिर आप चले जाइएगा।'

इस पर पापा ने जोरदार ठहाका लगाया। रोहित और आस्था को लगा वे खुश हो गए हैं। उनका तीर सही निशाने पर लगा है, पर अचानक पापा गंभीर हो गए। रोहित और आस्था उत्सुकता से उन्हें देख रहे थे। पापा ने कहा, 'सारी, अब मैं नहीं रुक सकता। तुम लोगों के साथ इतने दिन रह कर मैंने एक चीज सीखी है प्रैक्टिकल होना। अब तक मैं यही नहीं हो पाया था। प्रैक्टिकल होकर सोचने पर लगता है कि मुझे गोरखपुर में ही रहना चाहिए। मैं जा रहा हूँ और अब वहीं रहूंगा। वहाँ मैगजीन और किताबों की दुकान खोलूंगा। मन लगा रहेगा।'

रोहित और आस्था एक-दूसरे को देखने लगे।

द्वारा- सी-301, जनसत्ता अपार्टमेंट, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

मो. 09910257915

आस्तिक जयप्रकाश कर्दम

हवाई जहाज रात के ग्यारह बजे दिल्ली हवाई अड्डे पर उतरा। जहाज से बाहर आते ही डीजी मैडम को वीआईपी लाउंज में बैठा कर वह प्रोटोकाल कर्मचारी के साथ सामान लेने लगेज बेल्ट की ओर चला गया। सामान आते ही मैडम ने लाउंज से बाहर निकल कर निकास द्वार की ओर चलना शुरू कर दिया। अमन उनके साथ चल रहा था। अपनी गाड़ी की ओर बढ़ते हुए मैडम ने पूछा, 'तुम कैसे जाओगे?'

'मैं टैक्सी लूंगा मैडम!' अमन ने कहा।

'क्यों? तुम्हारे पास तो कार है ऑफिस की। अपने ड्राइवर को नहीं बुलाया तुमने?' डीजी मैडम ने पूछा।

'नहीं मैडम, मेरा घर यहाँ से बहुत दूर है। इतनी रात में ड्राइवर को परेशानी होगी, इसलिए ड्राइवर को नहीं बुलाया।'

अमन के मुँह से यह सुन मैडम को आश्चर्य हुआ। एक क्षण को अमन की ओर प्रशंसात्मक दृष्टि से देखा और उसकी संवेदनशीलता की प्रशंसा करते हुए वह बोलीं, 'ड्राइवर के बारे में भी इतना सोचते हो। तुम सचमुच अच्छे आदमी हो।'

डीजी मैडम के इन शब्दों पर अमन ने विनम्रता से अपना सिर झुका लिया और चुप रह गया।

घर पहुँचते-पहुँचते उसे रात के बारह बजे से ऊपर समय हो गया था। यात्रा की थकान थी। अगले दिन वह थोड़ी देर से ऑफिस पहुँचा। ऑफिस पहुँचते ही पीए ने बताया, 'सर, डीजी ऑफिस से दो बार फोन आ चुका है। मैडम आपसे बात करना चाहती हैं।'

'कितनी देर पहले आया था फोन?' उसने पीए से पूछा।

'पहले दस बजे आया था। दूसरी बार अभी आया है, चार-पाँच मिनट पहले ही।' पीए ने बताया।

'कुछ बताया उन्होंने कि किस संदर्भ में बात करना चाहती हैं?'

'नहीं सर, ऐसा कुछ नहीं बताया।'

‘ठीक है, डीजी ऑफिस को फोन मिलाओ।’
‘ओके सर, मिलाता हूँ।’
पीए ने फोन मिला दिया। ‘हैलो सर!’ दूसरी ओर से डीजी के पीएस की आवाज आई।
‘मेरे पीए ने बताया है कि आप दो बार फोन कर चुके हो।’
‘जी सर! मैडम कुछ बात करना चाहती हैं। बात कर लीजिए, मैं लाइन उनको दे रहा हूँ।’
‘नमस्ते मैडम!’ मैडम के फोन उठाते ही अमन ने सम्मानपूर्वक अभिवादन किया।
‘नमस्ते। देखो, अबकी बार देवगढ़ का प्रोग्राम अरेंज करो। इंदौर भी होते आएंगे। इस बार भी तुम ही साथ चलोगे। इसलिए फोन किया था तुम्हें।’
‘ठीक है मैडम, कब चलना है?’
‘अलगे सप्ताह चलेंगे।’
‘ठीक है मैडम, अरेंज करता हूँ।’
‘गेस्ट हाउस की क्या स्थिति है, मालूम कर लेना। कई जगहों पर सरकारी गेस्ट हाउस अच्छे नहीं हैं। गेस्ट हाउस ठीक न हो तो किसी ठीक-ठाक से होटल में करा लेना रहने का इंतजाम।’
‘जी मैडम!’ डीजी मैडम के कहने का आशय अमन समझ गया था, ‘कितने दिन का कार्यक्रम रहेगा वहाँ का मैडम, और कहाँ-कहाँ जाना होगा? उसके अनुसार ही अरेंज करना होगा।’
‘सोमवार को चलेंगे यहाँ से। उस दिन तो पहुँचेंगे ही। उस दिन कोई सरकारी मीटिंग नहीं करेंगे। मंगलवार को सुबह ग्यारह बजे मीटिंग रख लेना। लंच वहीं पर किया जा सकता है। शाम को लोकल में कुछ देख लेंगे।’
‘ठीक मैडम, मैं करता हूँ और बताता हूँ।’
‘बताना क्या, बस कर लो इंतजाम। कर लो बात जिस किसी से करनी हो। तुम समझदार हो। तुम्हारे इंतजाम हमेशा अच्छे होते हैं।’
‘जी मैडम।’
समय कम था। केवल तीन दिन। बाँस के मुंह से निकले शब्द आदेश के समान होते हैं। उन पर अमल करना अधीनस्थ कार्मिक की सबसे बड़ी

कार्यकुशलता होती है। तीन दिन के अंदर सब कुछ करना कठिन था, किंतु अपनी कार्यकुशलता का परिचय देते हुए अमन ने सब व्यवस्थाएँ कराईं।
डीजी मैडम कठोर स्वभाव की तुनक मिजाज महिला थीं। हालांकि वह मन की कोमल थीं, किंतु उनके मन की कोमलता स्टाफ के समक्ष कभी उजागर नहीं हुई थी। जुबान की इतनी कड़वी थीं कि किस कार्मिक को कब क्या कह कर लज्जित या अपमानित कर देंगी, इसका भरोसा नहीं था। भरी मीटिंग में किसी भी अधिकारी को कठोर शब्दों में फटकार देना या अपमानजनक तरीके से बात करना उनका जैसे स्वभाव था। बात-बात पर चार्जशीट और सस्पेंड करने की धमकी से सब अधिकारी और कर्मचारी सहमे-से रहते थे। उनके इस व्यवहार से अधिकारियों का मनोबल टूटा हुआ था। सब उनसे डरते थे, उनके सामने पड़ने से कतराते थे, किंतु अमन की कार्यकुशलता और विनम्र एवं शालीन व्यवहार से वह प्रभावित थीं। इसलिए अपने सरकारी दौरो में वह प्रायः अमन को अपने साथ लेकर जाती थीं। जहाँ का भी दौरा किया जाता, उन शहरों में कार्यालयों के अधिकारियों एवं राज्यों के प्रोटोकाल अधिकारियों से संपर्क एवं तालमेल कर आवश्यक व्यवस्थाएँ कराना अमन का काम था, ताकि सेक्रेटरी मैडम को कोई तकलीफ न हो।
मैडम निजी जीवन में अत्यंत धार्मिक महिला थीं। वह जब भी सरकारी दौरे पर जातीं, वहाँ के मंदिरों में देवी-देवताओं के दर्शन करने अवश्य जाती थीं। गणेश, शिव, विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा आदि किसी भी मंदिर में जिस किसी भी देवी-देवता की मूर्ति होती वह उसकी पूजा-अर्चना करती थीं। सभी के समक्ष कुछ न कुछ चढ़ावा चढ़ाती थीं। अमन जानता था कि लोकल में कुछ देखने के पीछे मैडम के दो ही आशय थे, मंदिर और बाजार। बाजार भले न जा पाएं, मंदिर अवश्य जाती थीं। इसलिए अमन ने वहाँ के प्रोटोकाल ऑफिसर से यह जानकारी ले ली थी कि वहाँ पर कौन सा प्रसिद्ध मंदिर है।

जयप्रकाश कर्दम

प्रसिद्ध दलित साहित्यकार। 'छप्पर' और 'तिनका
तिनका आग' कृतियों के लिए चर्चित।
केंद्रीय हिंदी प्रशिक्षण संस्थान में निदेशक।



कार्यक्रम के अनुसार सुबह की फ्लाइट पकड़ कर वे लोग देवगाढ़ पहुँच गए। एयरपोर्ट पर रिसेव करने आए प्रोटोकाल अधिकारी ने बताया कि 'सरकारी गेस्ट हाउस अच्छा नहीं है। राज्य के अतिथियों को होटल में ही ठहराया जाता है।' उनके ठहरने की व्यवस्था एक अच्छे होटल में की गई थी। डीजी मैडम के साथ उसे भी वहीं पर ठहराया गया। दोपहर के खाने के दौरान डीजी मैडम ने अमन से कहा, 'यहाँ पर एक शिव मंदिर है। शाम को वहाँ दर्शन करने चलेंगे। मालूम कर लेना कितनी दूर है यहाँ से, और प्रोटोकाल ऑफिसर से कह कर पहले ही इंतजाम करा लेना ताकि भीड़ से बचे रहें और ठीक से दर्शन हो जाएँ। सुना है, शाम को भीड़ हो जाती है।'

'जरूर मैडम। बात कर लेता हूँ।'

डीजी मैडम अपने कमरे में चली गईं। अमन व्यवस्था करने में जुट गया। उसने प्रोटोकाल अफसर को फोन मिलाया और बोला, 'मैडम शाम को शिव मंदिर जाना चाहती हैं। कृपया इसके लिए व्यवस्था कर लें कि मैडम को भीड़ में नहीं जाना पड़े और वह ठीक से दर्शन कर लें।'

'आप अब बता रहे हैं अमन जी! इतने कम समय में मुश्किल होगा व्यवस्था करना। आपका जो कार्यक्रम हमें मिला है, उसमें यह शामिल नहीं है।'

'वो ठीक है, लेकिन आप प्रशासन के आदमी हैं। कोई भी दिन हो, आपके लिए क्या दिक्कत है। मंदिर के प्रबंधक आदि से बात कर लीजिए।'

'शाम को मंदिर में बहुत भीड़ रहती है और आज कुछ अधिक रहेगी।'

'मैडम राज्य की स्टेट गेस्ट हैं, उनको वीआईपी दर्शन कराइए।'

'वीआईपी के मामले में भी आसान नहीं है साहब! यह बहुत प्रसिद्ध मंदिर है। दूर-दूर से लोग आते हैं। वीआईपी भी बहुत हो जाते हैं। उनकी भी लाइन लगती है।'

'वीआईपी की लाइन होगी न? उसकी कोई चिंता नहीं। मैडम भी अन्य सभी वीआईपी के साथ दर्शन कर लेंगी।'

'ठीक है, देखता हूँ मैं वीआईपी पास के लिए और बताता हूँ आपको। दो ही आदमी हैं न आप लोग?'

'हैं हम दो लोग, लेकिन मुख्य तो मैडम हैं। मेरे लिए नहीं हो पाए इंतजाम तो रहने दीजिए। उसके लिए परेशान मत होइएगा। मैडम को दर्शन हो जाए अच्छी तरह, यह काफी है। हाथी के पांव में सब का पांव।... मेरी वैसे भी इन सब में रुचि नहीं है।'

'आपकी रुचि अपनी जगह है, लेकिन आप मैडम के साथ हैं। आप भी हमारे मेहमान हैं। मैं आप दोनों के लिए इंतजाम करता हूँ। किस टाइम चलना चाहेंगे आप लोग यहाँ से?'

'देख लीजिए कौन-सा समय सुविधाजनक रहेगा। मैडम साढ़े चार बजे के बाद कभी भी चल सकेंगी।'

'शाम को छह बजे आरती होती है। उस समय लोग जाना ज्यादा पसंद करते हैं। मंदिर यहाँ से बहुत दूर नहीं है। आठ-दस किलोमीटर होगा। पांच-सवा पांच बजे निकलना ठीक रहेगा। छह बजे तक आराम से वहाँ पहुँच जाएंगे।'

‘मंदिर दर्शन करने से पहले मैडम शायद हाथ-पैर धोना चाहेंगी। मंदिर का गेस्ट हाउस होगा या कोई कमरा हो मंदिर परिसर में, जहाँ मैडम फ्रेश हो सकें।’

‘हो जाएगा। कमरे हैं वहाँ पर।’

‘हाँ, मंदिर से प्रसाद मिलता होगा, उसकी व्यवस्था भी करवा दीजिएगा। भगवान का प्रसाद भी मिल जाएगा, तो मैडम खुश हो जाएंगी।’

‘प्रसाद की व्यवस्था है। वीआईपी लोगों को प्रसाद मिलता है। अधिक चाहिए तो खरीदा भी जा सकता है। चिंता नहीं करें आप।’

‘ठीक है। आप इंतजाम कीजिए। पांच बजे हम तैयार रहेंगे।’

शाम छह बजे से पहले ही वे मंदिर पहुँच गए थे। परिसर के अंदर कुछ कमरे बने थे, जहाँ हाथ-मुँह धोकर थोड़ी देर विश्राम किया जा सकता था अथवा अपना कीमती सामान और जूते-चप्पल आदि वहाँ पर रख कर दर्शन के लिए मंदिर में जा सकते थे। डीजी मैडम के लिए भी एक कमरे की व्यवस्था प्रोटोकाल ऑफिसर ने करा ली थी, पुजारी से भी बात कर ली थी। दर्शन में अभी कुछ समय था। डीजी मैडम ने तब तक आराम किया। समय हो जाने पर एक पुजारी आ गया। वे दर्शन के लिए पुजारी के साथ मंदिर के अंदर चले गए।

मंदिर में दर्शनार्थियों की बहुत भीड़ थी। पुजारी भीड़ से अलग अन्य रास्ते से उनको मंदिर के अंदर ले गया। डीजी मैडम पुजारी के साथ-साथ चल रही थीं। पुजारी उनको मंदिर के इतिहास और वहाँ स्थापित देवी-देवताओं के बारे में बताता चल रहा था। किसी देवी-देवता की मूर्ति के पास से गुजरते हुए पुजारी उसके बारे में बताता, तो डीजी मैडम उस मूर्ति के समक्ष दोनों हाथ जोड़ कर अत्यंत श्रद्धा से सिर झुका लेती थीं। अमन, मैडम के कदम से कदम मिलाता हुआ पीछे-पीछे चल रहा था। खुली जगह में मैडम के कदमों की गति तेज होती, तो अमन भी अपने कदमों की गति बढ़ा देता। मैडम के कदमों की गति शिथिल पड़ती, तो अमन के कदमों की गति भी उसी के

अनुरूप शिथिल हो जाती। एक स्थान पर किसी देवता की मूर्ति के समक्ष डीजी मैडम के कदम कुछ रुके तो पुजारी ने कहा, ‘भगवान के दर्शन का समय हो रहा है। पहले चल कर भगवान के दर्शन कर लीजिए। उसके बाद इत्मीनान से मंदिर घूम कर देख लेना और बाकी सभी देवताओं के दर्शन कर लेना।’ पुजारी की बात मानते हुए मैडम बिना रुके तेज कदमों से उसके साथ-साथ चल दीं। मंदिर के द्वार खुलने से पहले कुछ अन्य वीआईपी लोगों के साथ मैडम और अमन को भी पुजारी ने मुख्य मंदिर के द्वार के ठीक सामने ले जाकर खड़ा कर दिया, ताकि द्वार खुलने पर सबसे पहले और तसल्ली से भगवान के दर्शन कर सकें।

मुख्य मंदिर का दरवाजा खुलते ही बाहर खड़ी दर्शनार्थियों की भीड़ में दर्शन करने के लिए अफरा-तफरी मचनी शुरू हो गई। भगवान के दर्शन करने की जल्दी में लोग एक-दूसरे को धकेल कर रास्ता बनाने लगे। उन्हें अपनी जान तक की सुध नहीं थी। मंदिर के कर्मचारी श्रद्धालुओं की भीड़ को नियंत्रित करने की कोशिश कर रहे थे। भीड़ का रेला आने से पहले सबसे आगे खड़े वीआईपी लोग दर्शन कर चुके थे। डीजी मैडम इतने निकट से भगवान के दर्शन कर संतुष्ट हुईं। यह संतोष उनके चेहरे से झलक रहा था। मैडम ने भगवान को कुछ अर्पित करने की इच्छा से अमन की ओर देखा। अमन ने अपनी जेब से एक सौ रुपए का नोट निकाल कर मैडम की ओर बढ़ा दिया। मैडम ने पूर्ण श्रद्धा से भगवान की मूर्ति को नमन किया और सौ रुपए का वह नोट देवता की मूर्ति के समक्ष अर्पित कर पुजारी के साथ वहाँ की भीड़ से आगे बढ़ गईं।

मैडम का एक धार्मिक नियम था कि किसी भी मंदिर में देवी-देवताओं के दर्शन करते समय वहाँ पर चढ़ावा अवश्य चढ़ाती थीं, किंतु मंदिर में जाते समय वह प्रायः बिना पर्स के खाली हाथ होती थीं। इसलिए साथ चल रहा अमन, अपनी जिम्मेदारी समझकर दस, पचास और सौ रुपए के कई नोट अपने साथ लेकर चलता था। मैडम को

जब भी कहीं चढ़ावा चढ़ाने अथवा दानपात्र में कुछ डालने की जरूरत होती, अमन तुरंत उनकी ओर नोट बढ़ा देता। वह अपनी श्रद्धा के अनुसार कोई एक नोट निकाल कर देवी-देवता को चढ़ा देती। दर्शन कराने के पश्चात पुजारी ने उनको मंदिर का बना बढ़िया घी का प्रसाद देकर विदा किया।

देवी-देवताओं के दर्शन और पूजा के बाद डीजी मैडम को अतीव सुख और आत्मिक शांति की अनुभूति होती थी। उस दिन भी मैडम बहुत खुश थीं। मंदिर से लौटते हुए वह अमन से बोली, 'अब कहीं जाना नहीं है। होटल में ही रहना है।'

अमन ने उनका आशय भांप कर सहमति जतायी, 'जी मैडम!'

'डिनर भी वहीं करेंगे!'

'हाँ, मैडम।'

'होटलों का खाना अक्सर खाते रहते हैं। ऐसा करते हैं कि आज होटल में नहीं खाते, कहीं बाहर चल कर खाते हैं।'

'ठीक है मैडम।'

'सुना है यहाँ स्ट्रीट फूड बहुत अच्छा मिलता है।'

'अच्छा है मैडम!'

'अभी होटल चलते हैं। पहले वहाँ एक कप चाय पीएंगे।'

'ठीक है मैडम।'

होटल पहुँच कर कार से उतरने पर मैडम अपने कमरे की ओर चलीं, तो अमन से बोली, 'तुम्हें कुछ काम तो है नहीं, मेरे कमरे में ही बैठो। वहीं चाय पीएंगे।'

'ठीक मैडम!' कहते हुए अमन मैडम के साथ उनके कमरे की ओर चल दिया।

मैडम बिल्कुल अनौपचारिक थीं। चाय पीते हुए उन्होंने अमन को बताया, 'अभी जिस मंदिर से हम होकर आए हैं, उसकी बड़ी मान्यता है। कहते हैं, यहाँ आदमी तभी दर्शन करने के लिए आता है जब भगवान उसे बुलाते हैं। मैं सोचती

थी कि एक बार यहाँ जरूर आऊंगी। कई बार आने का विचार बनाया, लेकिन किसी न किसी कारण से हर बार टल गया। अब देखो, अचानक प्रोग्राम बन गया। इतनी अच्छी तरह भगवान के दर्शन हो गए।'

अमन की चेतना को देवी-देवताओं के समक्ष माथा टेकना स्वीकार्य नहीं था। उच्च-अधिकारी के साथ रहने के कारण, विवशता से, दिखावे के लिए यह सब करना पड़ता था। नौकरी का मामला था। अधिकारी रुष्ट न हो जाएँ! कुछ न बोलना भी उचित नहीं था। केवल इतना कह कर रह गया, 'आप ठीक कह रही हैं मैडम!'

'लेकिन तुम नास्तिक हो। तुम तो मानते नहीं इन बातों को। फिर तुम क्यों मेरी हाँ में हाँ मिला रहे हो।'

'मैं नास्तिक हूँ मैडम। मैं ईश्वर को नहीं मानता। आप तो आस्तिक हैं, मैं आपकी आस्था का प्रतिवाद कैसे कर सकता हूँ।'

'समझदार हो तुम।' मैडम को अमन की बात अच्छी लगी। प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते हुए बोली, 'सारी दुनिया ईश्वर को मानती है। सभी धर्मों के लोग किसी न किसी रूप में ईश्वर को मानते हैं, पूजा-प्रार्थना करते हैं। तुम्हें क्या परेशानी है ईश्वर को मानने से?'

अमन को छोड़ कर ऑफिस के सभी अधिकारी और कर्मचारी आस्तिक थे। सभी देवी-देवता की पूजा करते थे। जब भी ऑफिस में ऐसी कोई चर्चा छिड़ती, अमन मूक श्रोता बना रहता था। मैडम ने जब उससे इस संबंध में सीधे पूछ लिया तो बचना उसके लिए मुश्किल हुआ। मुश्किल पर काबू पाता हुआ बोला, 'मैडम, सदियों से मेरा परिवार, पूर्वज लोग और समाज ईश्वर के प्रति आस्थावान रहे हैं, देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना करते रहे हैं। ये उनसे सुखी जीवन की कामना करते रहे हैं, किंतु उनके जीवन में कहीं कोई सुख, सम्मान और समृद्धि नहीं आ सकी। वे सदैव अभाव, अपमान, अस्पृश्यता के शिकार रहे। उनके जीवन में कोई बदलाव नहीं आया। बहुत से मंदिरों में

दलितों का प्रवेश अप्रत्यक्ष रूप से आज भी वर्जित है। भगवान किसी को ऐसी वर्जना लगाने से रोक नहीं रहा है, न किसी को सदबुद्धि दे रहा है कि वे दलितों के साथ किसी भी तरह का अमानवीय व्यवहार न करें। ऐसे भगवान को लेकर दलित क्या करें, जो न उनकी व्यथा सुनता है, न उनकी कोई मदद करता है, न उनके साथ हिंसा और भेदभाव करने वालों को कोई सजा देता है?’

मैडम जानती थी कि अमन दलित समुदाय से है। बोलीं, ‘बात सही कह रहे हो। दलितों की स्थिति सच में यही है। लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती कि जब नास्तिक हो, ईश्वर को नहीं मानते हो, तो फिर मंदिर में जाते क्यों हो?’ मैडम ने पूछा।

‘व्यक्तिगत रूप से मंदिर जाने में मुझे एतराज नहीं है। मंदिर जाता हूँ, लेकिन अपनी आस्था से कभी नहीं जाता। जब आपके साथ जाता हूँ तो आपकी आस्था के साथ जुड़ कर जाता हूँ। किसी और के साथ जाता हूँ तो उसकी आस्था के साथ जुड़ कर जाता हूँ।’ अमन ने सहजता से कहा।

‘बहुत व्यावहारिक व्यक्ति हो तुम तो।’ मैडम सुखद आश्चर्य से अमन की ओर देखती हुई बोलीं।

कुछ देर के पश्चात आगे बोलीं, ‘आज के समय में जब लोग अपनी-अपनी आस्था से इतने बंधे हों कि उसे ही सर्वोपरि मानते हों, ऐसे में दूसरों की आस्था का सम्मान करना एक दुर्लभ चीज है। तुम सच में अच्छे इन्सान हो।’

‘मैडम, दुनिया में सभी धर्म, धार्मिक प्रतीक और स्थल, सब मनुष्य द्वारा ईजाद और निर्मित हैं सब मनुष्य के लिए हैं। मनुष्य से बढ़ कर कोई चीज नहीं है। हम जीवन में जो कुछ प्राप्त करते हैं, अपने श्रम और प्रयासों के बल पर प्राप्त करते हैं। ईश्वर का आलंब मुझे जरूरी नहीं लगता।’

‘क्रांतिकारी सोच है तुम्हारा।’ कहते हुए डीजी मैडम ने कुछ इस तरह अमन की ओर देखा जैसे वह उनका अधीनस्थ कार्मिक नहीं, कोई विद्रोही है। वह बोलीं, ‘क्रांतिकारी की भी कोई न कोई

आस्था होती है। बड़े से बड़े क्रांतिकारी का भी कोई न कोई आराध्य होता है, जिसकी वे पूजा-प्रार्थना करते रहे हैं। कोई तो आराध्य होगा तुम्हारा भी?’

‘हाँ मैडम, मैं बाबासाहब अंबेडकर को मानता हूँ।’

मैडम की यह धारणा थी कि दलित अंबेडकरवादी होते हैं। इसलिए अमन के इस कथन पर उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ, किंतु वह जो जानना चाहती थी वह स्पष्ट नहीं हुआ। अतः अपनी बात स्पष्ट करते हुए वह अमन से बोलीं, ‘बाबासाहब को मानते हो, यह तो ठीक है, लेकिन वह तो मनुष्य हुए। मेरा तात्पर्य किसी देवी-देवता से है। कोई न कोई तो होगा तुम्हारा देवता, जिसे तुम्हारा परिवार मानता होगा, कोई कुलदेवता या कोई और?’

‘देवता, कुलदेवता या जो भी कहो, मैडम, हमारे लिए तो सब कुछ बाबासाहब अंबेडकर हैं। कोई देवता किसी को कुछ देगा या नहीं, बाबासाहब अंबेडकर ने हमें दिया है। उन्होंने हमें ज्ञान, चेतना, सम्मान, स्वाभिमान सब कुछ दिया है। हम आज जो कुछ हैं, उन्हीं की देन हैं। यदि वह हमारे मानवीय अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करते, संविधान में हमारे लिए शिक्षा और समानता का अधिकार नहीं देते, आरक्षण की व्यवस्था नहीं करते, तो हम आज उसी अमानवीय स्थिति में जी रहे होते जिस स्थिति में सदियों पहले से थे। सदियों से देवी-देवताओं की पूजा करने से कभी कुछ मिला नहीं हमें। फिर बाबासाहब से बढ़ कर किसे मानें हम?’

‘उन्हें देवता मानते हो तो उनकी पूजा तो करते होगे?’ मैडम ने पूछा।

‘नहीं मैडम, हम बाबासाहब अंबेडकर की पूजा नहीं करते, उनको नमन करते हैं।’

‘नमन करना भी पूजा ही है। तुम अपने देवता की पूजा करते हो, तब तुम भी आस्तिक हुए। नास्तिक कहाँ रहे तुम?’

‘ऐसा मान सकती हैं मैडम, लेकिन बाबा साहब

अंबेडकर को नमन करना मंदिर जाने और पूजा करने से भिन्न है। मंदिरों में लोग देवी-देवताओं को पूजा-प्रसाद अर्पित कर, उनका आशीर्वाद लेने, अपने लिए उनसे कुछ मांगते जाते हैं, जबकि बाबासाहब अंबेडकर से हम कुछ मांगते नहीं हैं, उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हैं। बाबासाहब के दर्शन करके हमें अपने ज्ञान और क्षमता पर भरोसा होता है, अपने विवेक और विश्वास के बल पर जीवन पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। उनका दर्शन और नमन करके हम उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। मैं मनुष्यता में विश्वास रखता हूँ मैडम! मानव प्रेम, मानव कल्याण को मैं सभी पूजा-प्रार्थना से ऊपर मानता हूँ। इसे मेरी आस्तिकता कह लीजिए या नास्तिकता। मेरा धर्म और अध्यात्म यहीं तक है।’

‘हुम्म...’ अमन की बात सुन मैडम ने एक लंबी हुंकारी के साथ दृष्टि अमन पर डाली और आंखें बंद कर विचार मग्न हो गईं। वार्तालाप यहीं पर समाप्त हो गया था। अमन मैडम की विचार तंद्रा टूटने की प्रतीक्षा करता रहा, लेकिन बहुत देर तक उनको विचार-तंद्रा में डूबे देख कर वह मैडम के कमरे से निकला और अपने कमरे में चला गया।

अगले दिन सुबह मैडम का एक अन्य मंदिर जाने का कार्यक्रम था। नाश्ते के समय अमन ने पूछा, ‘मंदिर किस समय चलना चाहेंगी मैडम?’

‘बस, नाश्ता कर लें फिर चलते हैं।’

नाश्ता करते ही वे गाड़ी में बैठ कर मंदिर की ओर चल दिए। अक्सर गाड़ी में बैठे हुए मैडम कुछ न कुछ बात करते हुए चलती थीं, लेकिन आज उन्होंने कोई बात नहीं की। ड्राइवर ने मंदिर के गेट के ठीक सामने गाड़ी रोक दी। प्रोटोकाल ऑफिसर वहाँ पहले से ही उपस्थित था। डीजी मैडम के गाड़ी से उतरते ही वह उनके पास आया और ‘आइए मैडम’ कह कर उन्हें मंदिर के अंदर चलने का संकेत करते हुए बोला, ‘पूजा की सब व्यवस्थाएँ मैंने करा ली हैं। अंदर चलिए।’

मंदिर के बाहर कई भूखे, अपाहिज लोग जमीन पर बैठे थे। मंदिर आने-जाने वालों की ओर उम्मीद से हाथ फैला रहे थे। मैडम ने उनकी ओर देखा और प्रोटोकाल ऑफिसर से कहा, ‘नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है आज।’

मैडम से यह सुन प्रोटोकाल ऑफिसर के साथ-साथ अमन को भी गहरा आश्चर्य हुआ। एक घोर धार्मिक महिला का मंदिर के द्वार तक आकर मंदिर के अंदर जाकर पूजा करने से इन्कार करना निश्चित रूप से आश्चर्य की बात थी। उनकी तुनक मिजाजी से भली भांति परिचित अमन के मस्तिष्क को झटका लगा, ‘कहीं मैडम किसी बात पर नाराज तो नहीं हो गई हैं?’ कुछ क्षण के लिए वह अवाक मैडम की ओर देखता रहा। साथ ही, यह आशंका भी उभर आई कि कहीं उनकी तबीयत को कुछ हो नहीं गया हो?’

इससे पहले कि अपने असमंजस से उबर कर अमन कुछ बोल पाता, प्रोटोकाल ऑफिसर ने मैडम से कहा, ‘लेकिन आपने कल कहा था मैडम इस मंदिर में दर्शन करने के लिए...।’

‘हाँ, वो है।... मंदिर आ तो गए हैं।’

‘मंदिर आ गए हैं, तो अंदर चल कर दर्शन कर लीजिए।’

‘अंदर जाने की जरूरत नहीं है। बस्स, हो गए दर्शन।’

‘यहीं से..?’

‘हाँ।’ मंदिर के बाहर पंक्तिबद्ध बैठे भिखारियों की ओर देखते हुए मैडम ने प्रोटोकाल ऑफिसर से कहा। फिर अमन को संबोधित करते हुए बोलीं, ‘कुछ खुले पैसे होंगे तुम्हारे पास?’

‘हाँ मैडम! यह लीजिए।’ कहते हुए अमन ने अपनी जेब से रुपए निकाल कर डीजी मैडम की ओर बढ़ा दिए। मैडम ने उनमें से पचास-पचास फिर वह रुपए के नोट निकाले और वे वहाँ बैठे भिखारियों को बांटने लगीं। मंदिर के बाहर ही पेड़ों के पास बेंच पर वह काफी देर तक बैठी रहीं।

बी-634, डी.डी.ए. फ्लैट्स, ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-110093 मो. 9871216298

आशा साहनी के बहाने

रीता गुप्ता

ट्रिंग ट्रिंग ट्रिंग!

‘इतनी रात गए किसने किया है फोन?’ हेमा ने आंखें मलते हुए साइड टेबल से चश्मा उठाया। नाम देख कर चौंक गई। इतने बरस के बाद!

घड़ी भोर के चार बजा रही थी, फोन के दूसरे सिरे पर मौजूद मनहूस चुप्पी उसकी नस-नस को सिहराने लगी। हेमा अब भी फोन लिए हुए बस अनुमान लगाने की कोशिश कर रही थी कि आखिर ऐसी गलती उनसे हुई कैसे। रिश्तों का जो अथाह बर्फीला समंदर फोन के दूसरे सिरे पर था, उस ग्लेशियर के पिघलने की आशा नगण्य थी। शायद सूरज कभी पश्चिम से उदय हुआ हो पर उनकी हेठी, उनकी अकड़, उनका सोच न कभी परिवर्तित हुआ है न परिवर्तित होने की गुंजाइश शेष है। फोन तो आया और उन्हीं का आया।

हेमा ने उठ कर खिड़की से परदा सरकाया, पर यादों पर पड़े पर्दे खिसक गए। दोनों जगह उसका सामना हुआ घने अंधेरे से। इस अंधियारे में हाथ बढ़ा कर रिश्तों के उलझे सिरे को कैसे सुलझाए?

साल-दो साल नहीं, कोई बीस-बाईस वर्ष बीत गए होंगे, जब आखिरी बार वह मम्मी से मिली थी। कैसे भूल सकती है उस मुलाकात को। उस आखिरी मुलाकात के भी चार साल पहले ही उसे घर-निकाला दे दिया गया था। हेमा को बेटी हुई थी, वहीं मुंबई में मम्मी के ही पास। हेमा तब पढ़ाई कर रही थी और उसके पति की पोस्टिंग छत्तीसगढ़ के अंदरूनी भाग में थी। जहाँ न वह अपनी शिक्षा पूरी कर सकती थी और न ही बेटी को वहाँ जन्म दे सकती थी, क्योंकि स्वास्थ्य सुविधाएँ वहाँ नाम मात्र को थीं। हेमा को महसूस हो रहा था कि मम्मी नहीं चाहती कि अब वह और मायके रहे।

‘शादी तुमने ही की मेरी इतनी जल्दी, बिना मेरी पढ़ाई खतम हुए और वह भी ऐसी जगह कि मुझे यहीं रहना ही होगा। सोचा, किसी तरह अधूरी पढ़ाई पूरी कर लूँ, तब तक बेटी माँ की छत्रछाया में पल जाएगी।’ ऐसा हेमा सोचती।

जाने क्यों उसकी सगी माँ ही उसकी दुश्मन बन बैठी थी। सास होती तो शायद कुछ ताने देती, पर यहाँ बिन सास की ससुराल थी और मम्मी ललिता पवार वाली भूमिका में थी। हेमा अनसुनी कर अपनी पढ़ाई पूरी करने की जद्दोजहद में लगी रहती। मम्मी को लगता कि जब शादी कर दी है तो अपने घर जा कर रहे।

हेमा ने एक दिन घिघियाते हुए कहा, ‘मम्मी, मैंने इसी से इतनी जल्दी शादी से मना किया था तुम्हें। तुम मेरी बात तब नहीं मानी थीं। मुझे पढ़ाई पूरी कर लेने दो, फिर मुझे जाने को

कहो उस अंदरूनी जगह पर।’

‘इतनी जल्दी बच्चा पैदा करने की क्या जरूरत थी?’ मम्मी ने तंज कसते हुए कहा था।

‘अब गलती हो गई, तुम मदद कर दो उसे पालने में तो शायद मैं कुछ वर्ष और पढ़ लूँ।’ हेमा ने मम्मी के पैर पकड़ लिए थे।

‘हेमंत अगले वर्ष बारहवीं की परीक्षा देगा। मैं नहीं चाहती कि तुम माँ-बेटी मिल कर मेरे बेटे के भविष्य को चौपट करो। तुम लोगों के चलते यँ ही उसकी ग्यारहवीं का परिणाम बिगड़ चुका है। बेहतर होगा कि अपने घर जाओ। हो गई तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई।’ मम्मी ने बेहद रूखे स्वर में कहा।

अब कुछ बचा नहीं कहने-सुनने को। अपने-पराए की परिधि सुनिश्चित कर दी गई थी। अवाक रह गई थी हेमा, हतप्रभ-सी जीवन की इस सच्चाई से रूबरू हो रही थी कि वह कितना बड़ा बोझ थी। जिस बात को बचपन से अबोले शब्दों के द्वारा महसूस करती आई थी, आज पूरी नमनता से वह भीषणता के साथ अपने विकराल स्वरूप में उजागर हो गई थी। इतना भेदभाव कोई माँ कैसे कर सकती है! हेमा के अफसर पिता इन सभी घरेलू बातों से अनभिज्ञ दफ्तर में व्यस्त रहते थे। मम्मी अपनी सभी कुटिल चालों को हेमा पर आजमाती रहतीं। उसे याद आ रही थीं मम्मी की वे बातें जब सुधीर शादी से पहले पहली बार उसे देखने आए थे। मम्मी उन्हें कह रही थीं, ‘मेरी तो एक ही बेटी है। मैं इसे बिलकुल दुखी नहीं देख सकती। पलकों से चुन लूंगी इसकी राह की मुश्किलों को।’

हेमा को ताली बजाने का दिल कर गया था, मम्मी के इस शुद्ध हिंदी डायलाग प्रवचन पर। अचानक याद आ गया आज उसके द्वारा इंगित बाहर का रास्ता दिखलाना और टप से चू गए आंसू उसकी आंखों से। गोद की बेटी रोने लगी और उसे अपने कलेजे से चिपका कर हेमा भी बिलख पड़ी। कुछ और याद आ गया जो मम्मी कहा करती थीं। रिश्ते की बुआ की शादी में जो मम्मी ने कहा था और हेमा ने उसे सच मान कर

कितने सपने संजो लिए थे।

‘लड़कियों को खूब पढ़ा देना चाहिए। कम से कम इतना कमा सके कि अपने पति के समक्ष उसे हाथ न पसारना पड़े। मैं इस लायक न बन सकी, पर मैं हेमा को अवश्य इतना पढ़ाऊंगी कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके। आर्थिक आत्मनिर्भरता बहुत बड़ी चीज है।’

बुआ ने कम पढ़ाई की थी। उनकी शादी कम उम्र में हो रही थी। यह मम्मी का एक चारित्रिक रूप था, जो अब उसे समझ में आ रहा था। हेमा ने थोथी बातों को उड़ाते हुए सार ग्रहण कर सिर्फ पढ़ाई करने को मकसद बना लिया था। मम्मी ने शायद उसके पंखों को मजबूत करने का कभी सोचा ही नहीं था। बेकार हेमा डॉक्टर बनने के ख्वाब पालती रही। हेमा को मम्मी के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश उस दिन हुआ जब सुबह उसने घर खाली करने का फरमान सुना। शाम को पापा के समक्ष ठुनकती हुई आवाज में कहते सुनी, ‘हेमा का अब मन नहीं लगता है हमारे यहाँ। सुधीर के पास जाने की जिद्द कर रही है। आखिर अब अपना घर-द्वार हो गया है, क्यों कर यहाँ उसका मन लगेगा...’

मम्मी बोल रही थीं। हेमा का दिल चाक-चाक हुआ जा रहा था। बचपन से एक दबबू व्यक्तित्व की स्वामिनी हेमा बोल भी नहीं पाई पापा को कुछ। जाने सुधीर उसे अपने संग ले भी जाएंगे या नहीं। अभी तक उसने कहा नहीं था, शायद मम्मी का मन पलट जाए। मम्मी बिसात बिछा, चाल पर चाल चल रही थीं। हर आने-जाने वाले से वह सुबह से यही बात दुहरा चुकी थी कि हेमा का अब यहाँ मन नहीं लग रहा। वह अपने घर जाना चाहती है। हेमा ने उस दिन कुछ नहीं खाया था, सारा दिन रोती रही थी। मम्मी ने बेटी को भी गोद में उठाना छोड़ दिया था।

दूसरे दिन, दिन चढ़े जब भूख से आंते कुलबुलाने लगीं तो रसोई की तरफ गई, मम्मी उधर ही मिल गईं। हेमा की सूजी पलकों को नजरअंदाज करती हुई उससे दो टूक पूछा, ‘सुधीर को बता दिया न

कि तुम जाना चाहती हो और वह आ कर तुम्हें ले जाए?’

‘मम्मी, कैसे बोलूँ? उन्हें लगेगा कि मैं अपने घर ही नहीं रहना चाहती हूँ। फिर वह भी तो चाहते हैं कि मैं अपनी पढ़ाई पूरी कर लूँ’, हेमा ने हकलाते हुए आशा-भरे लहजे में कहा।

‘वह सब मुझे नहीं पता। तुमको अब जाना तो होगा। हेमंत अगले वर्ष प्रतियोगी परीक्षाएँ देगा और मैं नहीं चाहती कि तुम और तुम्हारी बेटी उसे डिस्टर्ब करो यहाँ रह कर। शादी हो गई तुम्हारी, अब जान छोड़ो!’

मम्मी दो दिनों से वैसे भी बेटी को पकड़ नहीं रही थी तो वह कॉलेज नहीं जा पा रही थी। हेमा अब इस फरमान के बाद असहाय-सी वहीं बैठ गई। कोई चारा नहीं बचा था सुधीर को सारी बातें बताने के सिवाय।

‘देखो, बेटी को हमने जन्म दिया है तो हमारी प्राथमिकता वही है। मम्मी को अपशब्द नहीं कहना। हेमंत का रिजल्ट अच्छा होता तो यह इल्जाम हम पर नहीं आता। मैं आज ही निकलने की कोशिश करता हूँ। तुम हमेशा के लिए आने के लिए तैयार हो जाओ।’

सुधीर उसकी मनःस्थिति भांप उसे समझा रहे थे और हेमा रोती रही। वह फोन पर बातें कर रही थी और मम्मी चौखट पर खड़ी उसकी बात सुन रही थीं। मम्मी के विद्रूप चेहरे पर राहत की उगती लकीरों को देख कर हेमा का सर्वांग सुलग उठा था।

‘दीदी, मम्मी बता रही है कि तुम जा रही हो? जीजा जी लेने आ रहे हैं। मत जाओ दीदी, मैं छुटकी के बिना कैसे रहूँगा? तुम वहाँ जंगल में कैसे पढ़ोगी?’

निश्चल हेमंत बोलता जा रहा था, पूछता जा रहा था!

‘हेमंत! आज शाम से तुम आईआईटी कोचिंग के लिए जाना शुरू कर दो। मैंने दो और ट्यूटर्स से भी बात कर ली है। तुम उनसे भी अपने प्रॉब्लम्स सॉल्व करने में मदद ले सकते हो। दीदी के जाते

तुम इस कमरे में शिफ्ट हो जाना’, मम्मी बेटे की फ्यूचर प्लानिंग करने लगी थीं।

एक और कड़वा अध्याय खुल गया, जब मम्मी ने कहा था, ‘या तो तुम्हारे कोचिंग पर पैसा खर्च करूंगी या शादी पर। शादी ज्यादा जरूरी है, सो खुद ही पढ़ो और अपने प्रॉब्लम सॉल्व करो। वैसे भी प्रतियोगी परीक्षा वाली समझ और बुद्धि तुममें नहीं है।’

यदि विमाता होती तो ये बातें ग्राह्य भी होतीं। सगी माँ की ऐसी बातें हेमा के मन में शक पैदा करने लगी थीं कि कहीं वह गोद ली हुई बेटी तो नहीं! उसने सुना था कि माता कभी कुमाता नहीं होती, फिर यह जो उसकी मम्मी है, यह कौन सी श्रेणी की माँ है! बेटी की पढ़ाई छुड़ा बेटे को पढ़ाना चाहती है। क्या इतने बड़े घर के लिए वह इतनी बेगानी हो गई कि समा ही नहीं सके!

‘क्या कभी माँ ने उसे सच में प्यार किया होगा? क्या हमारे पढ़े-लिखे घर में वही पुरानी मानसिकता पैठ किए हुए है कि बेटी पराई और बेटा अपना है?’ हेमा सोचती जा रही थी...

मम्मी से घिघियाते रहने वाली हेमा के मन में पहली बार घृणा भाव पैदा हुआ। अब उसे बचपन की बहुत सी बातें साफ दिखने लगीं। कभी इस चश्मे से उसने देखा नहीं था, सोचा नहीं था। मम्मी की दोरंगी-तिरंगी बातों से अपने लिए हमेशा सकारात्मक पक्ष को मान वह आज तक जीती रही थी उस घर में।

उसे याद आ गए वे अनगिनत पल। बिस्तर पर लेट कर मम्मी का हमेशा हेमंत को गोद में भर लेना और हेमा को अपनी चोटी पकड़ा देना। हेमा को हमेशा मम्मी की पीठ ही मिलती चिपटने को, लिपटने को। दो बाहों के बीच जब मम्मी हेमंत को भरती होंगी तो न जाने कैसा महसूस होता था उसे।

‘पढ़ाई क्यों नहीं पूरा करना चाहती? क्यों हड़बड़ी हो रही है जाने की’, पापा पूछते जा रहे थे। हेमा चुप अपना और बेटी के सामानों को समेटती जा रही थी। अब उसे नहीं ठहरना था।



रीता गुप्ता

स्वतंत्र लेखन। कुछ संग्रहों में कहानियाँ शामिल।

वाकई अब उसे यहाँ से जाने की हड़बड़ी हो रही थी।

‘नहीं रहना इन बेगानों के बीच।’

‘काश हेमंत का आईआईटी में हो जाता, काश वह बहुत अच्छी नौकरी पा जाता।’ काश उसकी पढ़ाई-लिखाई हो जाए, यह सुनने को उसे कभी नहीं मिला।

चलते वक्त मम्मी के पैर झूठे वक्त बस यही आह उसके दिल से निकली थी।

फिर अपने को बिलकुल काट लिया हेमा ने मम्मी, पापा और हेमंत से। उनलोगों ने भी कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई जुड़े रहने में। ‘मैं ठीक - तुम ठीक’ टाइप बेहद औपचारिक बातों में सिमट कर रह गए उनके रिश्ते। शायद सैकड़ों जागी रातों ने भी हेमा को भरोसा नहीं दिया था कि उसकी पढ़ाई बिना किसी मुकाम के खतम हो चुकी है। हर आंसू के साथ मम्मी के लिए एक बददुआ निकलती रही। सब भूल कर झोंक दिया उसने खुद को अपनी गृहस्थी में। लाखों लड़कियों की शायद यही नियति होती है, यही सोच कर वह तसल्ली देती खुद को।

इस बीच पापा के गुजर जाने की खबर आई। दौड़ी-दौड़ी पहुँची हेमा। रोती हुई मम्मी को देख सारे गिले-शिकवे भुला बैठी और गले लग कर बस रोती रही। पंद्रह दिनों के बाद उसे ऊहापोह होने लगी कि कैसे छोड़ कर जाए मम्मी को अकेली। पर सिर्फ ‘रस्सी’ जली थी, एंठन बाकी थी।

‘हेमंत फाइनल इयर में है, कैम्पस प्लेसमेंट हो चुका है। कुछ ही महीनों के बाद वह वाशिंगटन में

अपनी नई नौकरी ज्वाइन करने जाएगा। बहुत कुछ अभी होना है इसमें। मैं तुम्हारे यहाँ कैसे जा कर रहूँ? जिनके बेटे होते हैं वे अनार्थों की तरह बेटे के घर जा कर क्यों रहे? फिर मैं तो बेटे के घर का पानी तक नहीं पी सकती हूँ। तुम अपनी सोचो, मेरी चिंता छोड़ो। मेरा बेटा है सब देखने-सोचने के लिए।’ मम्मी की अहंकारी बातों का कोई अंत नहीं था।

साल दर साल गुजरते गए।

हेमा के जीवन में एक अरसे के बाद कुछ ठहराव-सा आ गया था, क्योंकि उसने स्मृति-कपाट को बंद करना सीख लिया था। मम्मी की मानसिक गुलामी से आजादी उसके बौद्धिक विकास में सहायक हो रही थी और यही उसके सुख-संतोष का रहस्य था।

हेमंत वाशिंगटन चला गया। कुछ महीनों के बाद मम्मी भी चली गई वहाँ। वहीं हेमंत ने किसी एनआरआई लड़की से विवाह किया। हेमा को खबर मिलती रही। जब-जब बेटा की उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटना होता, मम्मी हेमा को फोन कर देती। उन्हें सुनाना ही पसंद था हमेशा, सुनना उनकी फितरत में नहीं था।

फिर विषय बदलने लगा। अब बहू की कारगुजारियों की लंबी फेहरिस्त थी उनके पास। ये वे दिन थे जब मम्मी ने हेमा से सबसे ज्यादा बातें की होंगी। सात समंदर पार हेमंत के घर में तलवारें म्यान छोड़ चुकी थीं। लड़ाई वर्चस्व की थी। पत्नी को छोड़ना यानी एनआरआई का स्टेटस त्यागना, अब इतना भी श्रवण कुमार नहीं था हेमंत। मम्मी को देश लौटना पड़ा।

घर के कोने-कोने में वर्षों पहले जमे हेमा के आंसू मम्मी के आंसुओं से जागृत हो अंगार बन उन्हें लपलपाने और डराने लगे। नहीं पता, मम्मी को भान हुआ या नहीं कि आशीर्वाद से कम ताकत नहीं रखती हैं 'बददुआएँ'। ये वे दिन थे जब मम्मी के फोन आने बंद हो चुके थे।

दरअसल हेमा चार साल के बाद जान पाई कि मम्मी हमेशा के लिए लौट आई हैं। हेमंत का फोन आया था, 'दीदी, मुंबई आया हुआ हूँ मम्मी से मिलने। उन्हें अब हमारे साथ रहने में मुश्किल होती है, सो मैं ही साल में एक बार आ जाता हूँ। तुमसे मिलने का बहुत मन हो रहा है। अगली बार आऊंगा तुम्हारे पास।' साल में एक बार हेमंत का कुछ ऐसा ही फोन आ जाता था।

'अच्छा, मम्मी अकेली कैसे रहती हैं? उनके मोबाइल में प्लीज, सबसे ऊपर मेरा नंबर सेव कर दो। हेमंत, पड़ोस में क्या आशा आंटी अभी भी रहती हैं? उनका नंबर भी मुझे देना और उन्हें मेरा; ताकि कभी जरूरत पड़े तो वो मुझसे संपर्क कर सकें।'

हेमा की नसीहतों और सुझावों का अंत नहीं था, जब पिछली बार हेमंत ने फोन किया था। दो वर्ष पहले उसने कहा था, 'मम्मी बिलकुल ठीक हैं, मेरे साथ अमेरिका जाने से अब भी इनकार कर रही हैं। वहाँ हाथ बांधे खड़े नौकर, बांदी जो नहीं मिलते हैं उन्हें। मुझे और रोमी को इतना वक्त नहीं है कि हम दिन भर इनकी सेवा करें या इनकी बातें सुनें। दोनों बच्चों से मम्मी को प्रॉब्लम है। इनकी नसीहतों और अपेक्षाओं की कोई सीमा नहीं है। हर वक्त एहसान जताती रहती हैं कि मैंने तुम्हारे लिए यह किया मैंने तुम्हें वह किया।'

हेमंत बोल रहा था और हेमा को अफसोस हो रहा था कि क्यों कभी उसने मम्मी को बददुआ दी थी, कि तुम मेरी पढ़ाई रोक कर बेटे को पढ़ा रही हो, कभी उससे सुख नहीं पाओगी।

हेमा मम्मी को फोन करती तो वह फोन उठती ही नहीं। फोन की घंटी ज्यादातर बजती रहती थी लंबी-लंबी। कभी फोन एक-दो रिंग के बाद ही

काट दिया जाता। हेमा समझ लेती कि मम्मी ठीक है और उनकी अकड़ पर पकड़ बरकरार है। मान-अभिमान की दीवार अगर हृदय से ऊंची हो जाती है तो मिलने के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। मैं समझ रही थी कि मम्मी मुझसे यह स्वीकार नहीं करना चाहती हैं कि हेमंत ने उन्हें यूँ तन्हा कर दिया है, उस बेटे ने, जिसके गुमान पर वह दुनिया के हर रिश्ते को तुच्छ समझती थीं, खास कर मुझे।

पड़ोस की आशा आंटी से कभी-कभार बातें हो जातीं। उनसे ही पता चलता कि मम्मी ठीक हैं। आज या कल ही उनसे हुई मुलाकात का आंटी जिक्र करतीं। आशा आंटी अलबत्ता अपना रोना रोती कि बेटे के विदेश जाने और अंकल के गुजर जाने के बाद अकेलापन उन्हें जीने नहीं दे रहा है।

'हेमा, तुझे एक खबर देनी है, मैं अब हमेशा के लिए बेटे के पास सिडनी जा रही हूँ। सो शायद अब यह नंबर काम न करे। तुम्हारी मम्मी ठीक हैं, हेमंत आने वाला है। शायद वह उसी के पास हमेशा के लिए चली जाएँ।'

आशा आंटी के इस फोन के बाद हेमा एक तरह से निश्चित हो गई कि चलो अच्छा है, मम्मी अब अकेली नहीं रह रहीं। मम्मी का अति 'पुत्र-प्रेम' आखिरकार रंग लाया।

इस बीच न कभी हेमंत का फोन आया और न किसी और का जो हेमा को उस दुनिया का समाचार दे, जहाँ उसके मायके के लोग रहते हैं। संचार के अति उत्तम और दिनों-दिन विकसित होते जा रहे यंत्रों में भी शायद उस तकनीक का अभाव है जो टूटे रिश्तों को जोड़ दे, परंतु आज इस गहराती रात्रि के अंतिम प्रहर में मोबाइल के स्क्रीन पर 'मम्मी' का चमकना।

दुबारा फोन करूँ या ना करूँ, सोचते हुए रात फिसलती जा रही थी कि पौ फटने के पूर्व फिर फोन बज उठा, 'हेमा-हेमा, मुझे यहाँ से ले चलो', मम्मी की बेहद क्षीण और कमजोर स्वर ने हेमा को द्रवित कर दिया।

'हाँ माँ, मैं आती हूँ तुमको लेने। पर हुआ क्या? हेमंत कहाँ है? तुम कहाँ हो?' हेमा ने

घबराते हुए सवालोंने पर सवाल चढ़ा दिए।
'कल रात आशा का बेटा डेढ़ वर्षों के बाद लौटा तो फ्लैट का दरवाजा अंदर से बंद था। अंदर आशा का कंकाल पड़ा था बिस्तर पर। मुझे नहीं मरना ऐसे अकेलेपन की मौत। मुझे नहीं मरना।'

मम्मी बोले जा रही थीं।
हेमा सुधीर के साथ मम्मी को लेने मुंबई जा रही थी, हमेशा के लिए अपने साथ रखने। उधर टीवी चैनलों पर आशा साहनी की मौत की खबर देश में सनसनी फैलाए जा रही थी!

द्वारा : श्री बी.के.गुप्ता, 204 बी, कोयलाविहार अपार्टमेंट, गांधी नगर गेट के नजदीक, कांके रोड, रांची, झारखंड-834008 मो.9575464852

वे मोमबत्तियों के साथ आए

केविन हग्स

वे मोमबत्तियों के साथ आए। तुम आए मशाल के साथ।

हाथ मोम से जले नहीं, क्योंकि कपकेक होल्डर को पिघला कर मोम थामने का इंतजाम उन्होंने कर लिया।

तुमने पत्थर प्रयोग किया अपने चाकू तेज करने के लिए। उन्होंने घंटों पत्थर पर फूल और शांति के प्रतीक उकेरने में लगाए। तुमने घंटों अपनी बंदूक और दूसरे हथियारों की स्टील की नोक चमकाने में लगाए।

उनमें से किसी ने टोप नहीं पहने थे, क्योंकि वे अपने विरोध को लेकर शर्मिंदा नहीं थे। तुमने टोप इसलिए नहीं पहने, क्योंकि तुमने सोचा तुम्हारे पास सत्ता बल और बंदूक है। लेकिन अब यह बल समाप्त हो चुका है फिलहाल।

कोने पर खड़ी स्त्री को तुमने मार डाला, दर्जनों घायल हुए, उन्हें टोप नहीं चाहिए।

तुम्हें चाहिए। अब वे जान गए हैं, तुम कौन हो। उन्हें तुम्हारी घृणा मालूम हो गई है। उन्हें शर्म करने, भय करने या छिपने का स्थान खोजने की जरूरत नहीं है।

तुम्हें है।

यह घृणा नहीं, बल्कि शर्म है, जो तुम्हें पराजित करेगी। वे तुम्हें खोज लेंगे, तुमने इसे खुद आसान कर दिया है। कोई चट्टान नहीं है जिसमें तुम छिप सको।

वे मोमबत्ती लेकर आए। और रोशनी ने तुम्हें डरा दिया। अब तुम्हें रहने, शांति और गुमनामी के लिए एक स्थान खोजना होगा, जो तुम्हें नहीं मिलेगा।

यह 1929 का जर्मनी नहीं है, यह 2017 का अमेरिका है। मोमबत्तियाँ अभी भी जल रही हैं। तुम्हारी मशाल अंततः बुझ जाएगी। शायद कुछ समय लगे, लेकिन परिवर्तन आ रहा है मोमबत्तियों के द्वारा ही!

अनुवाद : विजय शर्मा

326, न्यू सीतारामडेरा, एग्रीको, जमशेदपुर - 831009 मो.: 09430381718

मैथिली कहानी

हाथी चले बाजार

देवशंकर नवीन

अनुवाद : प्रतिमा कुमारी

‘बाप की दुलारी धीया, काम के न धाम के...!’ भवानी जिस रास्ते चलती, मोहल्ले के लोग एक बार यह फिकरा बोल कर हँस देते। भवानी सुन लेती और आगे बढ़ जाती। वे सोचती कि कहासुनी करने से ये बोलेंगे- तुम्हारे कारण लोग अपना मुँह बंद कर लेंगे क्या? लोग गीत भी न गाएँ? तुम क्या गांव की ठीकेदारिन हो? इस गीत का मर्मभेद भवानी जानती थीं। वे समझती थीं- इन लफंगों से क्या मुँह लगाना, उपले में घी सुखाना कोई अच्छी बात है!

भवानी के पिता को जब नौकरी मिली, उसके ढाई-तीन महीने बाद भवानी की माँ के पैर भारी हुए। दोनों ने मिल कर सोचा- देखिए! यह शिशु कितना भाग्यवान है, अपने आने से पहले ही इसने नौकरी भेज दी। इसे कोई कष्ट नहीं होगा...!

भवानी के पिता की नौकरी का जिस दिन साल पूरा हुआ, उसी दिन भवानी का जन्म हुआ, पिता को एक इन्क्रीमेंट मिला और माता-पिता ने निर्णय लिया, सच में, बड़ी खुशनसीब है यह बच्ची! इधर मोहल्ले में लोग कहते- बेटी हुई तब तो इतना गौरव है, बेटा होता तो धरती पर भी रहते या नहीं, पता नहीं! बहू बियाई, कूथ कर, पड़ोसन बोली, बेटी ही तो आई...!

अजब रीति है। कोउ काहू मगन, कोउ काहू मगन...। किंतु भवानी को माँ-बाप का इतना प्रेम मिलने लगा कि पड़ोसियों की अवांछित टिप्पणियों का शिकार वे नहीं हुईं। तब होश भी कहाँ था?...भवानी पांच बरस की हो गई, तब भी उसकी माँ के पांव दोबारा भारी होने की खबर मोहल्ले में नहीं फैली। लोगों ने कहना शुरू कर दिया- पहली दफा ही ऐसी राक्षसी पेट से गिरी कि पेट को बंजर बना डाला।

माँ-बाप की नजर में वे फिर भी दुलारी ही रहीं। उसी वर्ष जाने क्या-क्या हुआ, भवानी की माँ परलोक चली गईं। मोहल्ले में फिर एक कहानी फैली- अरी

ओ बहना, यह लड़की संतान नहीं है, राक्षसी है। देखना, ऐसे ही यह एक दिन बाप को भी खा जाएगी! भवानी के पिता के लिए यह सब आया पानी-गया पानी जैसा था। गंभीर व्यक्ति थे। बेटी को प्राणपण से पालने लगे। इस बेटी को अपनी पत्नी की निशानी समझने लगे। जवानी में ही विधुर हुए। समाज के लोग बोल-बोल कर थक गए कि शादी कर लीजिए...! उन्होंने जवाब दिया- अपने जीवन के लिए मुझे जिस दिन आपलोगों की सलाह की आवश्यकता होगी, मैं मांग लूंगा। अभी मुझे ऐसे ही जीने दीजिए!...

इन सारी बातों का असर मोहल्ले के बाल-बच्चों पर भी पड़ा। कोई भी बच्चा भवानी से दोस्ती करने को तैयार नहीं होता। हर कोई उसे अभागी और मनहूस कहने लगा। मनहूस वह क्यों है, यह बात वे बच्चे नहीं जानते थे। बाल मन इन बातों की कितनी जांच करता! माँ-काकी बोलती थीं तो उनलोगों ने भी मान लिया।

इधर भवानी को अकेले पिता से ही इतना स्नेह मिल जाता कि कभी उसे सखी-सहेली की आवश्यकता नहीं हुई। पिता से उसे माँ-बाप, भाई, बहन, सहेली... सबका स्नेह मिलता था। भवानी बड़ी होती गई। उम्र के साथ उसकी बुद्धि, गंभीरता और शरीर बढ़ता गया। भवानी अब जवान हो गई। पिता के विपुल स्नेह का कवच पहन कर समाज की उपेक्षा और ईर्ष्या को निरस्त करती रही। उसकी गंभीरता अब समाज को ज्यादा अखरने लगी थी। वे लोग उसे घमंडी समझते थे। अपने को वे अपमानित समझते थे और सूर्य पर थूक फेंकने की नीयत से फिकरा पढ़ते- बाप की दुलारी धीया, काम के न धाम के...!

वही भवानी अब विवाह योग्य हो गई। वैसे उम्र कोई अधिक नहीं हुई थी, पर पिता का मनोरथ तो आकाश में छेद करने को तैयार था। शहर में नौकरी करता एक वर हूँट लाए और भवानी का विवाह खूब धूमधाम से हो गया। दामाद ब्लॉक ऑफिसर के वरिष्ठ आशुलिपिक थे। विवाह अत्यंत शांति से संपन्न हुआ। किसी को पता भी नहीं लग

पाया कि तिलक-दहेज कैसे क्या दिया गया। बेटी की विदाई भी हुई। चतुर नार की तरह भवानी के पिता ने विदाई की एक-एक रीति और 'संदेश' की महीनी का ध्यान रखा। साथ जाकर बेटी-दामाद का घर सजा-संवार आए। बेटी-दामाद की राधा-कृष्ण जैसी जोड़ी देख कर खुशी से रो पड़े! हँसने लगे! हँस-हँसकर पागल हो गए! बोले- बाप की दुलारी धीया, राज करे शान से...!

समाज के लोगों को दिन में ही तारे दिखने लगे। ईर्ष्या से वे जल-भुन उठे। चर्चा होने लगी- -वर के माँ-बाप नहीं हैं। वर्ना इस कागबंध्या की संतान से कोई अपने बेटे की शादी करता! देखना, यह छोकरी भी कागबंध्या होगी। इसे भी एक बेटी से अधिक कुछ नहीं होगा... अजी छोड़ो, बिना सास-ननद का घर भी कोई घर होता है! हमलोग तो अपनी बेटी को ऐसे घर में नहीं ब्याह सकते!... भवानी के पिता सब सुनते, और इस विष को नीलकंठ महादेव की तरह पी जाते।

भवानी की शादी हुई तो सामाजिक व्यवस्था से, पर दोनों की जोड़ी जमती थी प्रेम विवाह की तरह। भवानी के पिता दोनों को खुद स्टूडियो ले गए, राधा-कृष्ण की तरह खड़ा करके दोनों की फोटो खिंचवाई और अपने सोने वाले कमरे में प्रेम लगवा कर टांग दी। रात को लेटे-लेटे मन कचोटता रहता -हम दोनों ने भी इसी तरह फोटो खिंचवाई होती, तो इसी फोटो की बगल में उसे टांग देता और आज भवानी की माँ की आत्मा से कहता, देखिए बेटी-दामाद को! एक बार कहिए न- बाप की दुलारी धीया, राज करे शान से...!

नित्य नियम से भवानी हर रविवार को पिता के लिए तिलकोर तलतीं, बैंगन के पकौड़े बनातीं, बड़ी बनातीं...ये सारे ढंग पिता ने ही सिखाए थे। भवानी को पता था कि जब से उनकी माँ परलोक गई, उनके पिता ने मछली खाना और तेल-साबुन लगाना छोड़ दिया है। यह कोई शास्त्रीय नियम नहीं था, यह तो प्रेम का त्याग था।

हर रविवार को, भवानी के पिता बेटी-दामाद

देवशंकर नवीन

मैथिली एवं हिंदी में मूल एवं अनूदित चार दर्जन पुस्तकें प्रकाशित।
संप्रति भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में
प्रोफसर।



को देखने आते थे। पूरे सप्ताह बगीचे में जो भी खीरा, कटू, बैंगन होता, झोले में डाल लेते और चल देते बेटी-दामाद को देखने। सुबह-शाम हर दिन भवानी के पिता बगीचे के खीरा-कटू को आंखों से ही मापते और प्रसन्न होते थे। बेलों के फल-फूलों को गिनते और प्रसन्न होते थे। उन्हें लगता जैसे भवानी ही बढ़ रही हैं। आहिस्ते से होंठ पर बुदबुदाते- बाप की दुलारी धीया, राज करे शान से...!

पीठ पर झोला लादकर चलते थे, तो रास्ते में कोई टोक देता- क्यों भाई, समधियाना चले क्या? ऐसे सूखे घर में बेटी का ब्याह कर दिया कि कोई हँसी-मजाक करने वाला भी नहीं है। किसके लिए ऐसे मजनुँ बने दौड़ते रहते हैं?...भवानी के पिता का मन विरक्त हो जाता। मन तो करता था कि कुछ कहें, फिर सोचते, विष्ठा पर ढेला क्या फेंकें! आगे बढ़ जाते।

शादी के छह महीने बीते। भवानी के पैर भारी हुए। दोनों प्राणी प्रसन्नता से भरे हुए थे। मन ही मन कल्पना करने लगे कि यह समाचार सुन कर बाबू जी कितने प्रसन्न होंगे। भवानी बोलीं- पिताजी का क्या कहूँ, वे तो भावुकता में पागल हो जाएँगे, देखिएगा, मुझे गोद में उठा कर नाचने लगेंगे। यह भी नहीं समझेंगे कि लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे। ...पर दोनों चौंक उठे- यह बात उन्हें कहेगा कौन? पति बोले- मुझे तो बोलते लाज आती है, आप ही बोल दीजिए। भवानी बोलीं- आप तो गोबर-गणेश हैं। यह बात पिता से कहीं कोई बेटी बोलती है?

दोनों में बहस होने लगी कि आखिर यह बात उन्हें कैसे कही जाए। कभी तय होता कि छोड़िए, खुद ही समझ जाएँगे। कभी सोचते, किसी व्यक्ति की प्रसन्नता को इस तरह दबाना अपराध है। होते-होते तीन महीने बीत गए। तब दोनों प्राणी से नहीं रहा गया। रास्ता निकाला गया कि पड़ोसन को बुला कर कहा जाए कि वे ही उन्हें यह बात बोलें और अगले रविवार को यही हुआ। भवानी के पिता खुशी से पागल हो गए। क्या बोलें, क्या करें...कुछ भी होश नहीं था। जिस पड़ोसन ने यह समाचार उन्हें दिया था, उन्हें आश्चर्य हुआ। इस तरह प्रसन्न होते हुए उन्होंने किसी को नहीं देखा था। उन्हें भवानी के पिता ने कहा- बैठो-बैठो! तुम भी तो मेरी बेटी ही हो। ऐसा शुभ समाचार तुमने मुझे दिया है। मांगो, मुझसे कुछ माँगो। आने वाले शिशु के नाना से कुछ मांगो तो! क्यों नहीं कुछ मांगती हो... अच्छा बाद में मांग लेना! पहले मेरे बच्चे के लिए खिलौने और कपड़ों की फेहरिस्त बनाओ। पड़ोसन बोलीं- पिता जी! अभी उसके जन्म में छह महीने की देर है। जल्दी क्या है! बाद में सब कुछ आ जाएगा। वे बोले- नहीं, नहीं। लिस्ट अभी बनाओ। दामाद को बुला कर बोले- अब मैं छह महीने की छुट्टी लेकर यहीं रहूँगा। मेरी बेटी को संतान होने वाला है, समझे आप... जाइए, आप क्या समझेंगे! अब मेरी बेटी एक भी काम नहीं करेगी। सभी कुछ मैं खुद करूँगा। रसोई बनाने से झाड़ू-बर्तन तक...। बेटी को बुलाया। सिर झुकाए बेटी खड़ी हुई। वे खुद भी खड़े हुए। दोनों हाथ से दोनों कनपटी पकड़

कर बेटी का सिर उठाए। बेटी का कांतिमय मुखमंडल गौर से देखा और बोले- बाप की दुलारी धीया, राज करे शान से...!

शाम हुई। अत्यंत सुखमय और सौरभमय वातावरण में शाम हुई। रात ढली। भवानी के पिता सच में खुशी से पागल हो गए थे। छह महीने के बच्चे की तरह घर में हरकत करते थे। कितनी बार अभिनय कर-कर के बेटी-दामाद को दिखाते थे कि उस बच्चे के साथ वे कैसे खेलेंगे। बातों ही बातों में रात बढ़ती जा रही थी। भवानी के पिता सो ही नहीं रहे थे। बहुत जिद करने पर उन्होंने बेटी-दामाद को सोने की अनुमति दे दी और स्वयं बिस्तरे पर पड़े-पड़े अगले छह महीने के दिन गिनने लगे। कुछ ही सेकंड में उनका कुछ सप्ताह बीत जाता। सोच-सोच कर इस तरह प्रसन्न होते रहे कि अचानक दो हिचकी आई और राम नाम सत्त हो गया।

सुबह हुई। बात फैली। बात भवानी के मैके पहुँची। बात घूम कर फिर भवानी के पड़ोस में आई। और भवानी एक बार फिर कुलच्छनी हो गई। भवानी के गर्भ में बढ़ते बच्चे के अभागेपन की कहानी तो पूछिए मत...!

क्रिया-कर्म हुआ। सारी बातें शांत हो गईं। भवानी तो बड़ी-बड़ी विपत्ति देख आई थीं। यह कैसे नहीं सहतीं। पढ़ी-लिखी नहीं हैं, मगर ज्ञान की कमी नहीं है। स्कूल-कॉलेज जाती तो ज्ञान तो स्वाहा हो ही जाते...। थोड़े दिनों की व्यथा और चीख-पुकार के बाद सहज होकर जीने लगीं और अब लोगों ने फिकरा गढ़ा- बाप की अभागी धीया, डूब मरे जान से...! किंतु भवानी डूबीं नहीं, डूबेंगी भी नहीं...!

बच्चे का जन्म हुआ। भवानी ने ताल-मखाना जैसे सुंदर और कोमल बेटे को जन्म दिया। यह समाचार किसी तरह उनके मैके तक पहुँचा। कहा जाने लगा- अभी नहीं मानेंगे, यह कुलच्छनी आगे कौन सा रंग दिखाएगी, सो न देखिएगा। मतलब, भवानी के मैके के लोगों को अपनी चिंता कम और भवानी की चिंता अधिक रहती

आई है। क्यों...यह कौन कहेगा?

पांच वर्ष और बीते। भवानी के मैके वालों को एक मौका और हाथ लगा। उनके पति स्कूटर से जा रहे थे। एक ट्रक से टकरा गए और वह ट्रक भवानी की माँग पोछता चला गया। फिकरे का स्वर तेज हो गया- बाप की अभागी धीया, डूब मरे जान से! ...भवानी मानसिक आघात से अचेत हो गईं। आंसू बहाने की आदत नहीं थी। पत्थर की चोट सहते-सहते, वज्राघात सहने तक की शक्ति जुटा ली थीं। चेतना लौटी, तो लोगों ने समझाया- बच्चा रो रहा है, उसे कौन संभालेगा? विपत्ति आपकी है! आपको ही सहना होगा! ऐसे करने से कैसे चलेगा...?

भवानी को बात समीचीन लगी। उन्होंने हिम्मत बटोरी। क्रिया-कर्म हुआ। सारा कुछ शांत हो गया। श्राद्धकर्म से मुक्त होकर भवानी ने गौर किया- अब? प्राणप्रिय पति के स्मरण में अपना जीवन स्वाहा कर लूँ अथवा अपने इस आत्मज के जीवन में अपना जीवन टटोलूँ? पिता जी ने क्या किया था? आज मैं अपने पिता की ही जगह तो खड़ी हूँ। लोग तो यूँ ही फिकरा पढ़ते रहेंगे- डूब मरो, डूब मरो! मैं क्यों डूब मरूँ। डूबें वे आततायी!

भवानी को जैसे महात्मा बुद्ध की तरह दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया था। जोर से एक बार सिर झटक कर उठीं, बगल में मुरझाए पुत्र को गोद में उठाकर चूम लिया और बड़े आह्लाद से बेटे को ऊपर फेंक कर फिर से पकड़ने हेतु हाथ फैला लिया...।

इतने दिनों तक भवानी का जीवन-संग्राम सामाजिक व्यवस्था से था। अब उनका संग्राम प्रशासनिक व्यवस्था से शुरू हुआ। पढ़ी-लिखी नहीं थीं। इसीलिए इस बनारसी गली के तिकड़म से परिचित नहीं थीं। जीवन-यापन के आर्थिक आधार हेतु कुछ तो करना होगा। परिस्थिति आने पर रास्ते खुलते हैं। क्रमशः पता चला कि जीवन बीमा कंपनी से कुछ धनराशि मिलेगी। उस चक्कर में दौड़ते-दौड़ते थक गईं। बीमा कंपनी के क्लर्कों की नजर शरीर में इस कदर चुभने लगी कि अब

उस ऑफिस जाने की इच्छा नहीं होती थी। वे लोग घूस चाहते थे, घूस में रुपए, कुछ और भी...किंतु...

एक व्यक्ति ने सलाह दी कि कंपनी के मैनेजर बड़े भले व्यक्ति हैं। लेखक हैं। जाकर उन्हें सारी बात बताइए! वे काम कर देंगे। भवानी ने वैसा ही किया। आनन-फानन में काम हो गया। दूसरी सलाह मिली कि आपको पति के स्थान पर नौकरी मिल जाएगी। हाकिम से मिलिए। पढ़ी-लिखी नहीं हैं उससे क्या, चपरासी की नौकरी भी तो मिल ही जाएगी। जीवन-यापन हो जाएगा किसी तरह...!

बच्चे को पड़ोसन के यहाँ रख कर भवानी हाकिम से मिलने विदा हुई। ऑफिस में चपरासी के हाथों पुर्जी भिजवाई। हाकिम ने बुलाया। परिचय पूछा। और, भवानी के एक-एक अंग के उतार-चढ़ाव की ओर ध्यान से देखा।

-आप क्या चाहती हैं?

-जी, एक बेटा है। उसका जीवन बनाना चाहती हूँ।

-अपने जीवन का क्या होगा? यह उम्र कैसे बीतेगी? यह देह क्या करेगी? इस उम्र और देह की मांग बर्दाश्त कर पाएंगी?

भवानी को बीमा कंपनी के मैनेजर याद आए। वे तो इस पतित से कम से कम दस वर्ष छोटे थे। कैसा पवित्र विचार था। यह पापी देख कैसे रहा है मेरी ओर! क्या पूछ रहा है मुझसे? इसे लाज भी नहीं आती?

-हुजूर, लोगों ने कहा है कि पति के बदले मुझे यहाँ नौकरी मिल सकती है। आप चाहेंगे तो हो जाएगा। एक बच्चे का जीवन बन जाएगा। आप कुछ बोलें!

-मैं तो बोल ही रहा हूँ, आप मेरे प्रश्न पर विचार कीजिए और सोच कर आइए। एक सप्ताह बाद मिलिए। अपने निर्णय के साथ आइएगा। समय और उम्र जीवन भर साथ नहीं देता है। समझीं या नहीं? जाइए!

भवानी उठी। अंग-अंग में चुभ रही हाकिम

की नजर के दंश को भोगती, छटपटाती रहीं। घर पहुँचकर बेहोश होकर बिछावन पर गिर पड़ी। कोई देखने वाला नहीं। पांच वर्ष का बच्चा माँ का दर्द क्या समझेगा? पड़ोसन के घर से वापस आकर मुरझाया-सा माँ की बगल में बैठा रहा। माँ-पिता द्वारा खरीदे हुए खिलौने उसे चिढ़ा रहे थे। ...भवानी होश में आई। खुद ही मरना है, खुद ही जीना है, और खुद ही उठ कर अर्थी सजानी है, क्या करे बेचारी...। बेटे को मुरझाया देखकर आत्मा रोने लगी। सामने पड़े खिलौनों को देख कर उन्हें अपना बचपन याद आया। लगा कि बेटा वे स्वयं हों। उनके मोहल्ले के बच्चे उन्हें कुलच्छनी समझते थे। फिकरा याद आया- बाप की अभागी धीया, डूब मरे जान से...। फिर अपने पिता की याद आई। माँ मरी थीं, तो उनके पिता को किसी ने अभागा नहीं कहा था। क्यों? उनके पिता को एक आर्थिक आधार था इसीलिए? या और कुछ...निश्चित रूप से और कुछ...। भवानी ने सोचा- यदि मैं पुरुष होती तो मेरे लिए यह फिकरा गढ़ा जाता? यदि ये हाकिम स्त्री होते तो किसी विधुर कर्मचारी के लिए ऐसा सोचते? मुझे बैठ जाना चाहिए? नहीं, मेरे साथ पिता के जीवन-क्रम की प्रेरणा है, पति के स्नेह-प्रेम का संबल है, पुत्र के जीवन की लालसा है। अपना जीवन तो कुत्ता भी जी लेता है, क्या स्त्री कोई रास्ता नहीं बना सकती है? अवश्य बना सकती है। मैं बनाऊंगी...।

सप्ताह बीता। वह दिन आया। भवानी तैयार हुई। हाकिम के ऑफिस में गई। जाहिर है कि हाकिम उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्हें बुलाया गया। हाकिम ने पूछा-

-मेरी बात पर ध्यान से सोच लिया?

-हुजूर, मुझे नौकरी दिला दीजिए। और बातें समय आने पर मैं सोच लूंगी।

-किंतु उससे पहले जो सोचना था, वह सोच लिया?

-पहले क्या सोचूँ? पहले तो आपको सोचना है। मैं तो सोच चुकी हूँ कि नौकरी करूंगी!

-पर मैंने सोचा है कि मैं आपके लिए कुछ करूँ। आप भी तो मेरे लिए कुछ करेंगी?

-मैं क्या कर सकती हूँ हुजूर? मैं किस लायक हूँ? आपलोग साहब-सुहब हैं! जिसकी ओर एक नजर देख देंगे, वह निहाल हो जाएगा।

-मगर आप नहीं जानती हैं कि आप एक नजर देख लेंगी, तो मेरे जैसे कितने साहब निहाल होकर आपकी गोद में गिर जाएँगे!

भवानी एक-एक शब्द पर चौंक उठती, सिहर उठती। ऐसी बातें किसी पर-पुरुष के मुंह से कभी सुनी नहीं थीं। मन में होता कि चिल्लाएँ। पर काम निकालना था...।

-चौंकिए मत! शाम को आठ बजे तक गेस्ट हाउस में मिलिए। वहीं आपको कागज भी मिल जाएगा। जीवन को जीवन समझिए। इसे बड़े-बुजुर्ग की सलाह भी समझिए। जाइए, मौज से जीवन बिताइए!

भवानी उठ कर चली गई और हाकिम तरह-तरह के सपने गढ़ने लगे शाम के लिए...!

रूम-फ्रेशनर के सुगंधित वातावरण से गेस्ट हाउस सराबोर रहता, यदि साहब के मिस्सी लगे दांत से चबाए गए मुर्गे की टांगें, व्हिस्की के पैग और चारमीनार सिगरेट के धुएँ की गंध वहाँ भरी नहीं रहती। यह मिश्रित गंध हाकिम को सुखकर लग रही थी। दुखकर था कि घड़ी की सूई आठ क्यों नहीं बजा रही है। आठ बजते ही दरवाजे पर

कुछ हरकत सुन कर व्हिस्की के सुरूर में हाकिम वहीं से बोले- तेरी एक नजर पर जान न्योछावर...!

हुर् से एक युवती रूम में प्रविष्ट हुई और हाकिम के पास जाकर बैठ गई।

अनर्थ हो गया। हाकिम का नशा हिरण हो गया। उन्हें आतंक समा गया। उनके मुखमंडल का उड़ता रंग देखकर युवती बोलीं- आप परेशान क्यों हो रहे हैं। भवानी भी आई हैं। ...उसने भवानी को बुलाया- भवानी, आइए!

भवानी आई। वे भी बैठ गई। युवती ने हाकिम से कहा- भवानी को नौकरी वाला वह कागज दे दीजिए। इनके लिए इतना ही न्योछावर कीजिए। इतना ही पर्याप्त होगा। जान उनके ऊपर क्या न्योछावर करेंगे। वे तो विधवा हैं। मैं कुंआरी हूँ और उनकी अपेक्षा ज्यादा आनंद दे सकती हूँ। आपकी वे सारी शर्तें पूरी करने को तत्पर हूँ जो आप भवानी से करवाना चाहते हैं। लाइए, दीजिए जल्दी। देर किसलिए कर रहे हैं? मेरी देह पसंद नहीं है क्या? क्यों नहीं बढ़ा रहे हैं कागज?

हाकिम बोले- गीता, तुम पागल तो नहीं हो गई हो? तुम यहाँ क्या करने आई हो?

युवती बोली- मुझे भवानी से सब कुछ पता चल चुका है। भवानी के साथ जो काम करने में आप पागल नहीं होंगे, वही काम आपके साथ करने में मैं कैसे पागल होऊंगी... आपकी बेटी हूँ इसलिए?

भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067 मो. 9868110994

कवि संवाद

कुछ होगा कुछ होगा, अगर मैं बोलूंगा¹

प्रस्तुति : अच्युतानंद मिश्र

साहित्य अपनी वस्तुपरकता (ऑब्जेक्टिविटी) में भी अंततः विषयपरक (सबजेक्टिव) होता है। शायद यही वजह है कि साहित्य के प्रश्न वस्तुनिष्ठ नहीं होते, नहीं होने चाहिए। पर यह सभ्यता तेजी से वस्तुनिष्ठता की तरफ बढ़ रही है। साहित्य का स्वभाव सिर्फ वस्तुनिष्ठता का नहीं है। दरअसल साहित्य हमें बहुस्तरीय यथार्थ के रंग बेहतर ढंग से स्थापित करने का विवेक देता है।

साहित्य किसी के बदले किसी अन्य की प्रस्तावना नहीं है। यह बहुतों को साथ-साथ आत्मसात करने का विवेक है। क्या हम इस बहुस्तरीयता की मांग पिछले चार दशक की कविता से कर सकते हैं? आज की कविता में 'आज' से हमारा क्या तात्पर्य है? क्या हमारा 'आज' कई आयामों में विभक्त है? जब हम कविता में किसी 'आज' की बात करते हैं तो यह समयबोध की वस्तुपरकता के बाहर चला जाता है। यानी आज की कविता का अर्थ हमारे बोध में मौजूद समय-चिह्न 'आज' तक सीमित नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि कविता का समयबोध समाज के ऊपरी समयबोध से भिन्न होगा, पर सवाल है कि इस भिन्नता को हम किस तरह चिह्नित करेंगे? उसे पहचानने का रास्ता क्या है?

पिछले चार दशकों की कविता के संदर्भ में समकालीनता का प्रश्न भी कुछ इसी तरह का प्रश्न है। सवाल है कि समकालीनता कवि की है, कविता की या परिदृश्य की। यह भी संभव है कि हम एक व्यापक समकालीनता की अवधारणा विकसित करें, जिसमें तमाम तरह की प्रवृत्तियों को अंतर्भूत किया जा सके। भौतिकी की ग्रैंड यूनिफाइड थ्योरी की तर्ज पर। क्या यह संभव हो सकता है? क्या कविता में हम किसी वृहद समकालीनता की अवधारणा को व्याख्यायित कर सकते हैं?

इस तरह की अवधारणा के खतरे हैं। एक बड़ा खतरा यह है कि ऐसे में साहित्य को समाज का स्थानापन्न बनाने की कोशिश नजर आने लगती है और व्यक्ति का सवाल पीछे छूटने लगता है। मुक्तिबोध ने कभी इस समस्या का बहुत गंभीरता से अनुभव किया था। क्या आज की कविता में व्यक्ति का सवाल पीछे छूट गया-सा नहीं लगता? कविता का समाज और व्यक्ति के साथ, समकालीनता और सार्वकालिकता के साथ, संस्कृति और

अच्युतानंद मिश्र

युवा कवि। कविता के लिए वर्ष 2017 का भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार।
कविता संग्रह 'आंख में तिनका'। प्रसिद्ध अफ्रीकी उपन्यासकार चिनुआ
अचेबे के उपन्यास 'ऐरो ऑफ गॉड' का 'देवता का बाण' शीर्षक से हिंदी
अनुवाद हार्पर कॉलिंग्स से प्रकाशित।
उत्तर-मार्क्सवाद की सैद्धांतिकी पर एक पुस्तक प्रकाशनाधीन।



राजनीति के साथ, परंपराओं और स्मृति के साथ किस तरह का संबंध होगा, क्या ऐसे प्रश्नों से हमने एक अनुकूलित दूरी विकसित कर ली है? कहा जा सकता है कि इन प्रश्नों के उत्तर दिए जा चुके हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि ये स्थिर प्रश्न नहीं हैं। हर दौर में ऐसे प्रश्न नए उत्तर की मांग करते हैं। सवाल यह भी है कि इन प्रश्नों से जूझने की कितनी कोशिश समकालीन कविता में नजर आती है।

कवि और कविता का संबंध भी अब सरलीकृत नहीं रह गया है। इसमें मध्यस्थ का दायरा बढ़ता जा रहा है। संस्थानों ने साहित्य को नए अर्थबोध और स्वीकृति प्रदान की है। ऐसे में इस तीसरे के साथ कवि को किस तरह पेश आना चाहिए यह एक जटिल सवाल है। संस्थाएँ अब महज मूर्त नहीं हैं। वे बाहरी संरचना के साथ एक भीतरी संरचना में भी बदलती जा रही हैं। सूचना क्रांति के माध्यमों में ढल कर वे कवि की रचना प्रक्रिया और कविता की अंतर्वस्तु तक को बदल रही हैं। कवि का आत्मजगत घिरता जा रहा है। ऐसे में कवि का संघर्ष भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा। रामचंद्र शुक्ल और मुक्तिबोध को जोड़ कर कहें तो आने वाले समय में कवि-कर्म की कठिनता के साथ-साथ अंतःकरण के आयतन के संकुचित होने का खतरा भी बढ़ता ही जाएगा। कवि के लिए यह एक नई चुनौती है और कविता के लिए नया प्रस्थान भी।

क्या हमने समकालीन कविता में क्रमिकता या संभावित क्रम भंग पर कोई बात की है?

अगर कविता पिछले चार दशकों को एक क्रमिकता में ही प्रस्तुत कर रही है तो जाहिर-सी बात है कि वह न इस संकट से पूरी तरह वाकिफ है और न वह प्रस्थान बिंदु को स्पष्ट कर पा रही है। यह भी संभव है कि आज की हिंदी कविता नए संदर्भों में क्रम भंग रच रही हो जिसकी हम अनदेखी कर रहे हैं।

ऐसे में जरूरी हो जाता है कि इस तरह के सवाल किसी एक पीढ़ी के ही कवियों से न पूछे जाएँ, बल्कि भिन्न-भिन्न पीढ़ियों के कवियों के सामने सवाल रखे जाएँ और आगे भी ठोस चर्चा हो। उनके जवाबों से किसी वस्तुपरकता को चिह्नित करने के बजाय कविता की विषयगतता की ओर ध्यान केंद्रित किए जाएँ। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए, पिछले चार दशक की हिंदी कविता की प्रवृत्तियों से संबद्ध कुछ प्रश्न वरिष्ठ कवियों के समक्ष रखे गए। यह दिलचस्प है कि हर कवि का इन प्रश्नों को देखने, समझने और व्याख्यायित करने का अपना नजरिया है। साहित्य का मूल स्वभाव इसी तरह की भिन्नताओं को एक व्यापक दृष्टिकोण में बदलने का होता है। साहित्य का सामाजिक दायरा इसी तरह की भिन्नताओं से निर्मित होता है। इस परिचर्चा का उद्देश्य एकायामी विवेक में कुछ तोड़-फोड़ की कोशिश और नए पथ तलाशना है।

क्या समकालीन कविता में बदलाव के लिए हमारा कवि समाज तैयार है?

1. रघुवीर सहाय की एक काव्य पंक्ति है।

सवाल

- (1) सामान्य पाठक समकालीन कविता की 'समकालीनता' से क्या समझें?
- (2) आज की कविता को अगर हम देखें तो इसकी जड़ें इमरजेंसी के ठीक बाद आई कविता से जुड़ती हैं। कविता के समकाल में इतनी लंबी क्रमिकता को आप किस तरह देखते हैं?
- (3) पिछले चालीस वर्षों से कविता के मूल्यांकन में काव्य प्रवृत्तियों का स्थान पीढ़ियों ने ले लिया, ऐसा क्यों हुआ?
- (4) क्या आपको भी लगता है कि हिंदी कविता में समकालीनता का मुहावरा एक हद तक रूढ़ हो चुका है और वह सही अर्थों में समकालीनता को प्रदर्शित नहीं करती?
- (5) आज की कविता की भाषा एक परिष्कृत काव्य भाषा है, यह आम समाज की भाषा से दूर आ चुकी है, ऐसे में कविता की सामाजिक भूमिका को आप किस तरह देखते हैं?
- (6) एक समय था जब कविता में एक कवि अपना अधिकांश देने के बाद अपने प्रतिनिधि संग्रह की तरफ मुड़ता था। उन संग्रहों का ऐतिहासिक महत्व हुआ करता था। 'राग-विराग' से निराला या प्रतिनिधि कवि शृंखला से प्रगतिशील कवियों को उनके श्रेष्ठ रूप में जाना-समझा जा सकता है। लेकिन इधर इतिहास में दर्ज होने की हड़बड़ी कहिए या व्याकुलता, युवा से युवा कवि अपना प्रतिनिधि संग्रह प्रकाशित करवा रहा है, इसे आप कैसे देखते हैं?
- (7) संस्थाओं एवं पुरस्कारों पर चर्चा होती है, प्रकट रूप में उनकी आलोचना भी होती है, लेकिन कविता की दुनिया में वे उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण ही होते जा रहे हैं। आपके पास कविता समय को देखने का एक लंबा अनुभव रहा है। आप इस घटना को किस तरह देखते हैं?
- (8) क्या आप महसूस करते हैं कि कविता पर व्यवसायीकरण और बाजार न सिर्फ बाहरी अर्थों में बल्कि भीतरी अर्थों में भी कहीं गहरे तक कवि मानस को अपना शिकार बना रहे हैं? यह प्रश्न इसलिए भी कि हिंदी कविता में सर्वसम्मति से मान लिया गया है कि वह बाजार विरोधी है।
- (9) पिछले कई दशकों से कविता में अनुभूत यथार्थ पर बल दिया गया है। कहा गया है कि जीवन अनुभव ही कविता की वास्तविक जमीन है, पर क्या यह संभव है कि अनुभवों को ही अनुकूलित कर दिया जाए, ऐसे में कवि कर्म का रास्ता क्या हो?
- (10) एक प्रश्न जो कि मुझे लगता है कविता के संदर्भ में सनातन है लेकिन हर दौर में उसका एक जवाब होता है, वह यह कि आज के दौर में कविता की भूमिका को आप किस तरह देखते हैं?

भाषा और अभिव्यक्ति का वैभव है कविता

लीलाधर जगूड़ी

(1) सही अर्थों में जीवनबोध की प्रतीति सबसे पहले कालबोध से होती है। कालबोध भी समस्याबोध से जनमता है। समस्या भी कर्मबोध से जुड़ी हुई है। कर्म भी आवश्यकताओं से दिशा ग्रहण करते हैं। काल को जब अकाल कहते हैं, तो उसके दो से अधिक अर्थ पैदा हो रहे होते हैं, जैसे किसी बीज में दो-तीन अंकुर एक साथ फूट जाएँ! जैसे एक ही गर्भ से तीन बच्चे पैदा हो जाएँ! अकाल का एक अर्थ असमय है। दूसरा अर्थ कि जो समय नहीं है यानी कि जो काल से बाधित नहीं है। तीसरा अर्थ कि जो कालाधीन नहीं है। चौथा अर्थ कि जो कालातीत होकर भी सब कालों में विद्यमान है, अर्थात् काल जिसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इसके अलावा एक अर्थ तो हम सब जानते हैं कि दुर्भिक्ष होता है। एक 'कहतुल रजाल' होता है, अर्थात् इंसानों का अकाल यानी तब भी कोई मानवता, इंसानियत, अहिंसा की बात करे तो 'सत श्री अकाल' बनता है। अहिंसा के बिना सहिष्णुता अधूरी है। सबसे बड़ा दुर्भिक्ष है इंसानियत का अकाल।

काल से समय, समय से वक्त, वक्त से फुर्सत, ये सब हमें समकालीनता, समसामयिकता और दीर्घकालीनता का बोध कराते हैं, लेकिन चिंता और असर अल्पकालीन होते हैं। अभी-अभी की जो तात्कालिकता लेटेस्टियल का बोध देती है, वह क्षणभंगुर समकालीनता हो सकती है। एक समकालीनता अतीत से भविष्य तक फैली होती है। वस्तुतः विगत से अनागत तक की संवेदना ही हमें सृष्टि के आदि में भी ले जाती है और अंत में भी खड़ा कर देती है। समकालीनता कभी हमें विराट ब्रह्मांड से जोड़ देती है, कभी 'खारी बावली' तक सीमित कर देती है। समकालीनता में अपनी उम्र में मिली हुई अन्य उम्रों की उपस्थिति और उनकी उपादेयता शामिल रहती है। मेरी समकालीनता में सुमित्रानंदन पंत, निराला, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की समकालीनता भी शामिल है। सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, कमलादास और अमृता प्रीतम, अमृता शेरगिल और कृष्णा सोबती की समकालीनता भी मेरी समकालीनता में शामिल है। मैं जब मध्यकाल का इतिहास पढ़ता हूँ तो सूर, कबीर, तुलसी के समय में भी मैं खुद को खोजने लगता हूँ। मैं और पीछे आदिकालीन समय में वेदों, उपनिषदों और पुराणों को भी अनेकानेक समकालीन प्रसंगों में अवतरित होते हुए देखता हूँ।

समकालीनता केवल इस साल की और दस साल की नहीं होती, वह जेनेटिक भी होती है। समकालीनता केवल क्षणभंगुरता का नाम नहीं है, बल्कि वह प्राचीनता और दीर्घकालीनता से भी मुझे जुड़ी हुई लगती है। समकाल को अपने समय के अलावा सबके समय में भी होना पड़ता है। समकाल को बहुत व्यक्तिगत बना कर हम अपने को ही सीमित कर देते हैं। समकालीन का मतलब मैं समझता हूँ कि यह बीते हुए और

आने वाले समय के बीच की जगह है। समसामयिकता में तात्कालिकता और समकालीनता में दीर्घकालीनता की परिवर्तनशील परंपरा जुड़ी हुई है। समकालीनता अतीत और भविष्य की खुराक पर जीती है।

हर समय का मूल्यांकन मनुष्यों ने खुद किया है। अपने समय में हो कर सारे समयों को भी हम ही फेंकेंगे। हम वर्तमान के ही नहीं अतीत के भी शिक्षक होते हैं। समय हमारा शिकार नहीं करता, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों से हम समय का शिकार करते हैं, पर बदनाम हम नहीं हमारा समय होता है।

(2) काल एक तो ब्रह्मांडीय रिक्तता (स्पेस) की देन है। इसका दूसरा पक्ष अपने समय के लोग और अपने समय की घटनाएँ हैं। इसका तीसरा पहलू मूल्यों में विचलन और परिवर्तन बनता हुआ दिखता है। इमर्जेसी से ही समकालीनता शुरू नहीं होती, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम से आधुनिक समय की समकालीनता शुरू होती है। एक समकाल मुगलकालीन भी है और समकालीनता में लोकतंत्र की भी समकालीनता बनती है? लोकतांत्रिक चेतना क्या केवल इमर्जेसी में ही आहत या बाधित हुई थी, पहले और बाद में कभी नहीं हुई? दरअसल इंदिरा गांधी की यह लड़ाई जनता से नहीं कानून से थी। तभी तो अगले चुनाव में जनता ने इंदिरा का साथ दिया। समकालीनता का संबंध '62 की हार से भी है और बांग्लादेश के निर्माण से भी है। पूरी वैश्विक प्रक्रिया में समकालीनता की परख होनी चाहिए। समकालीनता का एक हिस्सा तिब्बत जैसे देश का हड़प लिया जाना भी है। आनंदबर्द्धन के ध्वन्यालोक में, भामह के साहित्यालंकार से, औचित्य के आचार्य की भूमि से, कश्मीरी पंडितों का निकाला जाना भी समकालीनता का प्रश्न है। समकालीनता में भूख हड़तालें, मुकदमेबाजी और हत्याएँ भी शामिल हैं। इन्हें समकालीनता पर लगे कलंकों के रूप में भी देखा जाना चाहिए। गोरक्षा के नाम पर ईश्वर की उत्कृष्टतम रचना मनुष्य की हत्या किया जाना क्या समकालीनता से बाहर है?

इमर्जेसी भी एक संवैधानिक संकट था। समाज में, व्यक्तियों के समूहों में जितने असंवैधानिक संकट आते हैं, अपने समय की रचना उससे भी संबद्ध हो जाती है। विपत्ति को गले लगाने और न लगाने के नियमों के विरुद्ध भी वह गले पड़ जाती है। विपत्ति में कई पुल बनाने पड़ते हैं। विपत्ति निवारण के लिए समाज या व्यक्ति अव्यावहारिक उपाय भी काम में अक्सर लाते देखे गए हैं। नियम हमेशा एक ही तरह से लागू नहीं होते। घटित घटनाओं को बंद में स्वीकार्यता और तिरस्कार्यता की ओर ले जाना पड़ता है।

काव्य प्रवृत्तियों में बदलाव की वजह से पीढ़ीगत बदलावों को हम पहचान पाए हैं। वरना कुछ प्रवृत्तियाँ तो नई पीढ़ियों में भी लौट-लौट आती हैं। पिछले पचास-साठ वर्षों में पीढ़ियाँ तो सिर्फ दो या तीन ही बदली होंगी, लेकिन साहित्य और कलाओं में पांच-छ प्रकार के परिवर्तन आए हैं। क्या यह राजनीतिक दलों की वजह से हुआ या यह साम्यवाद, समाजवाद और गरीबी उन्मूलन के झूठे नारों और संकल्पों से हुए एक ओर मोहभंग के कारण हुए? पीढ़ियों का महत्व है, लेकिन बुनियादी बदलाव प्रवृत्तियों में परिवर्तन से होता है। एक पीढ़ी एक जैसा न सोचती है न एक जैसा साहित्य लिखती है, लेकिन वैचारिक आग्रह उन्हें एक ही सांचे में ढालना चाहते हैं। समकालीनता की आड़ में कालबोध से इतिहासबोध गायब हो जाता है। काल को आदि से अंत तक देखते रहना चाहिए।

(4) समकाल और समकालीनता में भी वैविध्य है। समकालीनता की पहचान में गड़बड़ हो सकती है। समकालीनता में वैचारिक आधुनिकता को भी शामिल किया जाना चाहिए। वैचारिक भिन्नता भी समकालीनता को भिन्न बना देती है। हो सकता है नई पीढ़ी के बजाय पुरानी पीढ़ी ज्यादा आधुनिक हो। नई उम्र और आधुनिकता में बड़ा फर्क है, समकालीनता को निर्णायक मान लेना ठीक नहीं है। रूढ़ियों और रीति-रिवाजों की भी एक समकालीनता होती है लेकिन सभी परंपरा का

दर्जा नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि परंपरा में परिवर्तन की परंपरा भी अंतर्निहित है। यदि ऐसा न होता, तो परंपरा और रूढ़ि में कोई अंतर न रह जाता।

परंपरा एक बड़ा और व्यापक शब्द है। वह बहुत कुछ निकाल बाहर करती हुई, बहुत कुछ को बदलती-समेटी आगे आकर समकालीन बनी है। समकालीनता की आधुनिकता भी विचारणीय विषय है। आधुनिकता के समकालीन रूपों पर विचार होना चाहिए। आधुनिकता का तत्व वैचारिकता और वैज्ञानिकता के सहारे से आगे बढ़ कर हमेशा पीढ़ियों के सोच को अधिक समकालीन बनाता रहा है। यानी कभी हमें ज्ञान ने (जानकारियों ने) बचाया, कभी विज्ञान (रचनात्मकता) ने रास्ता दिखाया।

(5) कविता की सामाजिक भूमिका कई स्तरों पर एक साथ काम करती है। कविता भाषिक परिष्कार और परिमार्जन के पक्ष में रही है, लेकिन कविता ने 'लोक' का दामन कभी नहीं छोड़ा। कविता लोक से शब्दों और प्रसंगों को हमेशा चुनती रही है। लोक शब्दों से अर्थ के जो बिंब बनते हैं, उन्हें कविता ने हमेशा अपनी असली ताकत सिद्ध किया है। गहराई से देखें तो पहले की अपेक्षा हमारा 'लोक' भी परिष्कृत हुआ है। ऐसे में उस परिष्कार को त्यागा नहीं जा सकता। कविता ने भाषा के स्तर पर हमेशा भदेस होकर भी अपनी अभिव्यक्ति के मामूलीपन को ताकतवर बनाए रखा है। हाँ, यह जरूर हुआ है कि प्रसंग या विषयवस्तु से तादात्म्य के कारण कुछ जगहों पर भाषा में अचानक परिवर्तन आया हो। ऐसा उसकी शिल्पगत अपरिहार्यता की वजह से कभी कहीं हुआ हो और नज़ीर समझ लिया गया हो, लेकिन अधिकांश में अर्थवान फटीचर भाषा का इस्तेमाल अच्छे कवियों द्वारा हुआ है। नगण्यता में अर्थगांभीर्य पैदा करने वाले कवि बहुत हुए हैं, लेकिन हुए हैं। लोकगीतों जैसी मार्मिक सरलता कविता में आनी चाहिए। कविता को एक बिना जाना हुआ विचार और बिना गाया हुआ गाना लगना चाहिए।

लीलाधर जगूड़ी

वरिष्ठ कवि।

अद्यतन कविता संग्रह

'खबर का मुंह विज्ञापन से ढंका है'।



(6) आजकल प्रकाशकों से प्रायः यह उत्तर मिलता है कि कविता संग्रह हम नहीं छापते हैं। कविता को अल्पसंख्यक विधा बना कर चुक जाना चाहिए था, लेकिन आजकल के कवियों की जब फेशमफेश देखता हूँ तो संपादक और पूफ रीडर का अभाव बहुत खलता है। संपादक की ठगी इसलिए भी अखरती है कि लेखक को कुछ समझाए तो कौन? ना समझ को सराहिवो समझवार को मौन!

कवि बहुत हो रहे हैं। कुछ अपने पैसे से ही कविता संग्रह छपवा लेते हैं। आमदनी अच्छी हो रही है, कविता अच्छी नहीं हो रही। बस किसी भी पंक्ति को टेढ़ा-मेढ़ा लिख दो, कविता हो जाती है। टेढ़े-मेढ़े शिल्प को कविता की पहचान बना दिया गया है। कविता बनी कि नहीं बनी इस पर ध्यान नहीं जाता। भाषा और अभिव्यक्ति का अंतिम वैभव है कविता।

मुक्तिबोध का पहला संग्रह ही लगता था कि चुनी हुई कविताओं का संग्रह है। मेरी अपनी जो प्रकाशन योग्य कविताएँ हैं, छोटी-बड़ी मिला कर वे लगभग एक हजार हो गई हैं। मैं सोचता हूँ कि इनमें से चुनूँ तो तीन शतक तो बन ही जाएंगी। मैं अपने पाठकों और रचनाकार मित्रों पर छोड़ता हूँ कि वे अपनी पसंद के प्रसंगों की कविताओं को चुन लेते तो मुझे उनकी पसंदांजलि प्राप्त हो जाती। यह परंपरा चलाना भी बुरा नहीं होगा। कविताएँ वे ही अच्छी जो किसी स्मृति का संग्रह बन जाएँ। अच्छी पंक्तियाँ लोगों की जबान पर होनी चाहिए।

(7) पत्रिकाएँ कविताओं का पारिश्रमिक प्रायः नहीं देती हैं। देती हैं तो नगण्य-सा। अच्छा कवि मंच पर जाता नहीं, न उसे बुलाया जाता है।

सवाल है, गंभीर कविता को कहीं से आर्थिक पोषण मिलेगा या नहीं? पुरस्कारों का बड़ा हल्ला है। यों देखें तो कविता के लिस्ट में कुल जमा एक भी पुरस्कार नहीं है। साहित्य के लिए है। कभी किसी कवि का भी नंबर आ सकता है। पुरस्कारों की अगर गणना की जाय, तो मुश्किल से पांच-छः बड़े पुरस्कार हैं। लिखने वालों की संख्या प्रत्येक प्रदेश में पचास से सौ के बीच तो है ही। हिंदी में साहित्य अकादमी पुरस्कार पचास और साठ की उम्र पर पहुँच कर मिलता है। हिंदी में व्यास सम्मान, सरस्वती सम्मान और ज्ञानपीठ पुरस्कार आखिरी और सर्वोच्च बन कर रह गए हैं। मुझे तो ये पुरस्कार कम और नगण्य लगते हैं। पुरस्कार और होने चाहिए और कई प्रकार के होने चाहिए।

हिंदी के कवि और लेखक का तो डाक व्यय और रचना को कंप्यूटर से टाइप कराने का व्यय ही नहीं निकल पाता। प्रकाशक ईमानदारी से रायल्टी नहीं देता। क्या लेखक केवल सभी मोर्चों पर संघर्ष करने के लिए ही बना है? हिंदी समाज बहुत कम पुस्तकें खरीद कर पढ़ता है। हिंदी समाज पुस्तक द्रोही अगर नहीं है तो मुफ्तखोर जरूर है। लेखन के बल पर हिंदी में किसी लेखक ने अच्छा जीवन नहीं जिया है। उसकी लायक, नालायक संतानों ने भले ही मौज मारी हो। पुरस्कारों का अगर कोई झगड़ा है तो वह बदनाम करने की नीयत से उठाया गया नकली झगड़ा लगता है। पुरस्कार अगर हो सके तो इतने होने चाहिए कि अच्छे कवि और लेखक सामान्यतः एक सुखी और सुरक्षित जीवन जी सके।

(8) भारतीय जीवन पद्धति में बाजार हमेशा से मौजूद रहा है। भारतीय संस्कृति में जगत-व्यापार और भव सागर जैसे शब्द आदि काल से उपस्थित हैं। नैतिक बाजार का कभी विरोध नहीं रहा। अब कुछ लोग मानने लगे हैं कि बाजार पूरा का पूरा अनैतिक और मानव सभ्यता के विरोध में है। मेरे लिए यह मान लेना कठिन है। बाजार मनुष्य जीवन की दैनन्दिनी का एक हिस्सा है। सूर, कबीर,

तुलसी और मीरा ने जीवन के व्यापार को बाजार में घटित होते देखा। बाजार आज पूरी दुनिया को नजदीक ला रहा है। मनुष्य की हर मुक्ति बाजार में होती है।

(9) अनुभव अगर अनुभूति और संवेदना को धार नहीं देते तो वे केवल अपने भरोसे मानसिक व्यासि तक नहीं पहुँच सकते। पहले किसी घटना में होना होता है। घटना में कायांतरण के बाद जो होता है उसे अनुभव कहते हैं। वह आध्यात्मिक अनुभूति, संवेदना के तर्कों का हिस्सा बन जाय, तब समझ आता है कि अपने भीतर एक प्रतिकार करता हुआ प्रतिपक्ष खड़ा हो गया है। मामला व्यक्ति और समुदाय से होता हुआ समूह का भी हो सकता है, किसी वर्ग विशेष का भी। इसलिए मैं अनुभव की तीव्रता का निषेध नहीं करना चाहूँगा। अनुभूत यथार्थ का भी कविताओं में कायांतरण करना पड़ता है। अनुभव को ज्यों का त्यों लिख देना साहित्य नहीं होता। कवि को शब्दों और भाषा की नई उपज भी देनी होती है।

(10) कविता की मुख्य भूमिका है किसी घटना, किसी अनुभूति से उमगती संवेदना का वर्णन करना। जरूरी नहीं कि वह यथार्थवादी अथवा आदर्शवादी हो। वह काल्पनिक विवाद (फैंटसी) भी हो सकती है। कविता का काम है कि खराब स्थितियों का भी मार्मिक वर्णन हो। कविता का काम अच्छाइयों के अलावा बुराइयों का भी पीछा करना है। कविता का काम है भाषा के अज्ञात, अप्रयुक्त और अकथित की संरचना करके किसी बात को पहली बार कहना। इसीलिए कवि-कर्म बहुत कठिन हो जाता है। कुछ कवि उसे अपनी रचनात्मक शक्ति के द्वारा अपने लिए जरूरी बनाते हुए अमर हो जाते हैं। आश्चर्य इसी बात का है कि मानवीयता और अमानवीयता की घटनाएँ सृष्टि के पहले दिन से लगभग एक जैसी होती आ रही हैं। कभी पात्र बदलते हैं कभी औजार, कभी जगहें बदल जाती हैं, लेकिन मानवीय पीड़ाओं की कविता हमेशा अलग-अलग तरह से हमारे सामने आई हैं। कवियों का जन्म भी कविता का पुनर्जन्म है।

कभी पुराने कवि भी इतने नए लगने लगते हैं कि नए कवियों को अपनी सार्थकता के नए क्षेत्र ढूँढने के लिए विवश होना पड़ता है। अनुभव और संवेदना की नई अभिव्यक्ति कवियों के लिए हमेशा मुख्य चुनौती रही है। इसलिए पुराने और अपने समय के कवियों के प्रभाव से बच कर कुछ लिख पाना भी उपलब्धि जैसा लगने लगता है।

आज कविता जैसी कविता बहुत लिखी जा रही है, पर अलग तरह की कविता नहीं के बराबर है। गद्य बहुत लिखा जा रहा है, पर उसमें कविता की शक्ति का अभाव है। कविता का पहला जन्म कथा कहने के लिए हुआ था। कथा से भिन्न होती है काव्य-कथा। नाटक में भी कथा होती है और

कविता नाटक की अभिव्यक्ति में भी चार चाँद लगा देती है। निबंध में काव्य तत्व अक्तूबर की नदी जैसा पारदर्शी और सही गहराई बताने वाला होता है। आज की कविता में व्यथा की और प्रसन्नता की जो कथाएँ कही गई हैं उन पर थोड़ा भी काम नहीं हुआ है। अध्यापकीय वैचारिकता पर्याप्त नहीं है। अध्यापकीय परिपाटी से अलग होकर नई आलोचकीयता की जरूरत है। थोड़ी प्रशंसा और थोड़ी निंदा वाली आलोचना से नया रास्ता नहीं निकलने वाला। कभी कोई ऐसा तपा आलोचक आएगा, जो स्वाध्याय निरत होकर वाणी और शब्द की मर्मज्ञता प्रकट करेगा।

मो. 09411733588

कविता उनका भरोसा है जो कुचला जा रहा है

राजेश जोशी

(1) और (4) समकालीनता ठीक-ठीक परिभाषित पद नहीं है इसलिए उसका मनमाना और कामचलाऊ उपयोग किया जाता रहा है। समय इस पद का अभिन्न हिस्सा है। समकालीनता एक कामप्लेक्स पद है। उसकी अनेक परतें हैं। किसी एक ही समयावधि में साथ-साथ काम कर रहे लोग एक दूसरे के समकालीन हो भी सकते हैं और नहीं भी। समकालीन कविता में समकालीनता का तत्व क्या है? इस प्रश्न पर रघुवीर सहाय मानते हैं 'समकालीनता मानव भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है।' इसी टिप्पणी में मानव भविष्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, 'मानव भविष्य में एक ऐसे जीवन की कल्पना निहित है जिसे आज की भाषा में समाजवादी कहते हैं।' इस तरह समकालीनता एक वैचारिक या विचारधारात्मक प्रवर्ग या श्रेणी बन जाती है। यह टिप्पणी समकालीनता को साफ तौर पर एक राजनीतिक प्रत्यय बना देती है। विजेंद्र इसे

सौंदर्यशास्त्र की श्रेणी में ले आते हैं। उनके अनुसार जनतंत्र में यह सर्वहारा की शक्ति को स्वीकारने का संकेत है। जनतंत्र की इस प्रतिज्ञा को यदि कोई कवि नहीं निभाता तो उसके समकालीन होने पर संदेह होगा। वह अपने समय की मुख्य सामाजिक गतिकी को कभी पकड़ नहीं पाएगा। इस तरह विचारधारात्मक पक्षधरता और सामाजिक गतिकी को स्पष्टतः समझे बिना समकालीन कविता में समकालीनता को नहीं समझा जा सकता।

समकालीनता पद के असावधान उपयोग ने उसके अर्थ को विरूपित कर दिया है। इसलिए मुझे लगता है कि आलोचना कर्म के लिए इस पद का कम से कम उपयोग किया जाना चाहिए। हमें सुविधा के लिए समय अवधि को तय करके, उस अवधि में हुए सृजन कर्म का मूल्यांकन करना चाहिए। इसलिए दशक जैसी इकाई किसी समय में लिखी जा रही कविता के मूल्यांकन के लिए मुझे ज्यादा उपयोगी और सुविधाजनक लगती है।



राजेश जोशी
सुप्रसिद्ध कवि।
अद्यतन कविता संग्रह
'जिद'।

(2) मुझे लगता है कि आपातकाल के बाद कई बड़े परिवर्तन हुए हैं। सोवियत संघ में समाजवादी समाज का विखंडन, कल्याणकारी राज्य की आर्थिक अवधारणा को प्रस्थापित करके भूमंडलीकरण की नई अवधारणा का आगमन, बिल गेट्स के विंडो और नई प्रौद्योगिकी का आना कुछ ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होंने सामाजिक गतिकी में बहुत बड़े उलटफेर किए हैं। यह भी माना गया कि 1990 में बीसवीं सदी का अंत हो गया और 21वीं सदी की शुरुआत हो गई। हालांकि मुझे लगता है कि 21वीं सदी के दूसरे दशक में कुछ बड़े राजनीतिक आर्थिक परिवर्तनों के संकेत मिल रहे हैं। हो सकता है कि हमें इस नतीजे पर पहुँचना पड़े कि 21वीं सदी की शुरुआत वस्तुतः इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक से हुई, जहाँ ग्लोबल एकानाँमी की विफलता सामने आ चुकी है और दक्षिणपंथी शक्तियाँ विश्व स्तर पर सक्रिय हो रही हैं। एक नए तरह के राष्ट्रवाद का उदय हो रहा है। कुछ चिंतकों को तो इसमें द्वितीय विश्वयुद्ध के समय के फासीवाद की भी अनुगूँज सुनाई दे रही है। मुझे लगता है कि किसी भी समय की कविता को उसकी पूरी परंपरा के संदर्भ में समझा जाना चाहिए लेकिन उसके मूल्यांकन के लिए बहुत बड़ा वितान चुनना, उसे ठीक-ठीक समझने में अड़चन पैदा करेगा।

(3) काव्य प्रवृत्तियों के आधार पर जो विभाजन किए गए थे, उनमें भी कई तरह की दिक्कतें रही हैं। रीतिकाल में रीतिमुक्त कविता को अलगाना पड़ा। मुक्तिबोध ने नई कविता में दो धाराओं का सवाल उठाया और व्यक्तिवादी और प्रगतिशील मूल्यों में विश्वास करने वाली कविता को अलग

दिया। 'नए पते' के निराला को छायावाद से बाहर ले आना पड़ा। यही नहीं एक समय तो ऐसा आया कि कई तरह के आंदोलन उठ खड़े हुए और किसम-किसम की कविता जैसा लेख लिखा गया- जिसमें प्रवृत्ति के आधार पर पच्चीस तीस तरह कविताओं के नामकरण हुए।

इसलिए आलोचना की सुविधा के लिए ही पीढ़ियों या दशकों जैसे विभाजन किए गए होंगे।

(5) इस सवाल पर मैं असहमत हूँ। भाषा के स्तर पर शायद पहली बार हिंदी की कविता बोलचाल की भाषा के सबसे निकट आई है। छायावाद की भाषा देखें, प्रगतिवाद की या नई कविता की भाषा! कविता की भाषा कभी भी बोलचाल की भाषा के इतना करीब नहीं रही, जितनी आज की कविता भाषा है। सामाजिक भूमिका को निभाने के लिए अनुभवों के विस्तार की आवश्यकता है सिर्फ भाषा और शिल्प से सारी पहेलियाँ हल नहीं होंगी।

(6) यह वस्तुतः प्रकाशन जगत की व्यावसायिकता से जुड़ा मामला अधिक है। कवि उसमें कई बार दबाव में और कभी-कभी लालच में भी आ जाते हैं। लेकिन इससे एक काम कुछ बेहतर भी हुआ है कि सजिल्द किताबें महंगी बनी हुई हैं, प्रतिनिधि रचनाओं के संकलन सस्ते हैं और पाठक की पहुँच में आ जाते हैं। प्रकाशन की सुविधाएँ भी बढ़ी हैं और किताबों के बाजार का विस्तार हुआ है। इसलिए इस तरह के कई परिवर्तन सामने आ रहे हैं।

(7) पुरस्कार कोई भी हो वह विवाद में रहेगा। दुनिया के बड़े से बड़े पुरस्कार भी निर्विवाद नहीं रहे। एक भाषा में एक ही समय में लिख रहे रचनाकारों में कई रचनाकार एक ही स्तर पर रच रहे होते हैं। उनमें से जब किसी एक को चुना जाएगा तो विवाद होगा। सवाल यह है कि पुरस्कार को स्वयं रचनाकार किस दृष्टि से देखता है। अगर आप दुनिया के कुछ बड़े रचनाकारों के संस्मरण पढ़ें तो पाएंगे कि नोबेल या इसी तरह के बड़े

पुरस्कारों में भी कई तरह की कमजोरियाँ नजर आती हैं। हमारे रचनाकारों में भी होंगी। मुझे नहीं लगता कि यह कोई बड़ा मुद्दा है। कवि को कालिदास तक ने यशःप्रार्थी कहा है!

(8) किसी भी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव समाज के सभी लोगों पर होता है। कवि उससे पूरी तरह अलग नहीं है। जब व्यक्ति के रूप में आप पर कोई प्रभाव होगा तो आपकी सृजनात्मकता उससे पूरी तरह अलग कैसे हो सकती है। उसके प्रभाव थोड़े-बहुत तो आपकी रचना पर भी आएंगे ही। अंतर्विरोधों को रिसाल्व करने की कोशिश होनी चाहिए लेकिन फिर भी वो रहेंगे। कविता विचार में बाजार विरोधी है, यह तो स्पष्ट है लेकिन अपने व्यवहार में हो सकता है कि वह कई बार उन्हीं प्रवृत्तियों की शिकार भी हो जिनका वह विचार के स्तर पर विरोध कर रही है। यह अंतर्विरोध सिर्फ कविता में ही नहीं हर व्यक्ति में दिखेगा।

(9) अनुभव की प्रामाणिकता आदि के आंदोलन साठ के आसपास सुनाई पड़ते थे। कविता या कोई भी रचना कर्म सिर्फ स्वानुभव पर आश्रित नहीं हो सकता। परानुभव को भी स्वानुभव बनाना पड़ता है। तभी अनुभव का भी विस्तार होता है,

विजन का भी और रचना का भी। जिस खतरे की ओर तुमने इशारा किया है वह खतरा तो है कि जब अनुभव ही अनुकूलित कर लिया जाए तब कवि कर्म का रास्ता क्या होगा? अनुकूलन हमारे समय में वर्चस्व की राजनीति का एक बड़ा उपकरण है। इतिहास और मिथक को भी जब अनुकूलित किया जा रहा हो तब कवि कर्म के लिए ज्यादा सावधानी की जरूरत होगी जिससे वह इस अनुकूलन से परे अनुभव की वास्तविकता को पहचान सके। रचना कर्म का रास्ता कभी बहुत सीधा नहीं होता।

(10) मुझे लगता है कि कविता की एक बड़ी भूमिका यही होती है कि वह व्यक्ति या समूह जो पिट रहा है, कुचला जा रहा है, मारा जा रहा है और लड़ रहा है उसे आपकी रचना यह भरोसा दिला सके कि आप उसके साथ खड़े हैं। कई बार ऐसा भरोसा बहुत ताकत देता है। कविता की कई भूमिकाएँ हो सकती हैं। कभी बहुत निजी और कभी बहुत व्यापक अर्थ में सार्वजनिक भी। कविता हमेशा जीवन के पक्ष में खड़ी एक ऐसी आवाज है जो हर मौके पर और हर मोर्चे पर मनुष्य के साथ होगी और उसकी ताकत बनेगी।

मो. 09424579277

कोई भी न्यायपूर्ण समाज कविता के बिना संभव नहीं

अरुण कमल

(1) समकालीन वह भी हो सकता है जो बहुत पहले का हो। यह भी हो सकता है कि जो आज लिखा जा रहा है वह समकालीन न लगे। इस पर प्रख्यात कथाकार दूधनाथ सिंह ने बड़ी गोष्ठी कराई थी जहाँ मैंने भी लेख पढ़ा था जो मेरी किताब 'गोलमेज' में है। यहाँ इतना ही कहना है कि समकालीनता से अभी हमारा आशय अभी लिखी

जा रही कविता से है जिसमें सारे सक्रिय कवि शामिल हैं जो जीवन के पल-पल परिवर्तित वेश को पकड़ते हैं।

(2) मैं सीधे-सीधे किसी भी राजनैतिक घटना को कविता के लिए नियंता या नियामक नहीं मानता। इन सब से परे सतह के बहुत नीचे जीवन की धारा बहती रहती है। इसके अलावा जो भी

बाहर घटित होता है वह अंततः मनुष्य के आंतरिक जीवन, भाव जगत, और मानव संबंधों को प्रभावित करता है। अभी की कविता की जड़ें सुदूर शताब्दियों पहले की भूमि में भी हो सकती हैं। जैसे केदारनाथ सिंह की कविता 'बाघ'। अगर आपका मतलब पिछले तीन-चार दशकों की कविता

के सत्ता विरोधी चरित्र और भूमिका से है तो मेरा कहना होगा कि यह आरंभ से ही कविता की, विश्व कविता की, एक बुनियादी प्रतिज्ञा रही है। सिर्फ खड़ी बोली को लें तो भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, निराला से लेकर अभी तक इसका पालन हुआ है।

(3) अगर कई पीढ़ियों में कुछ मूल्यगत समानता है तो बात उस पर ही होगी। अगर प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं तो ज्यादा बात उस पर होगी। मुझको लगता है कि अभी भी सारे कवि एक-से मत, प्रवृत्ति या शिल्प के नहीं हैं। उनमें अनेक भिन्नताएँ हैं जो होंगी ही। कुछ उदाहरण लें तो विनोद कुमार शुक्ल, प्रभात त्रिपाठी, अशोक वाजपेयी और गगन गिल या हरिश्चंद्र पांडे, सौरभ राय और अनुपम एक सरीखे कदापि नहीं हैं। न स्वभाव में, न बर्ताव में, न राजनीति में।

(4) साहित्य के इतिहास में, प्रायः हर भाषा में ऐसा हुआ है कि कोई पद रूढ़ हो जाता है, पर रहता अपर्याप्त है; जैसे हिंदी में छायावाद, अंग्रेजी में मेटाफिजिकल, रूसी में फ्युचरिस्ट। कोई जरूरी नहीं कि हर कविता का कोई वंशनाम या सरनेम हो। हर श्रेष्ठ कविता अपनी जाति को तोड़ती है। वैसे यहाँ समकालीनता केवल समयसूचक पद है।

(5) मैं बिलकुल सहमत नहीं हूँ कि अभी की कविता की भाषा एक परिष्कृत काव्य भाषा है। एक बात यह है कि कविता कोई एक संयुक्त परिवार जैसी संस्था नहीं होती। हर कवि एक इकाई है। हर कविता एक अलग जीव। हर श्रेष्ठ कवि बहुत तरह की भाषा का व्यवहार करते हुए भाषा की सारी शक्ति और संपत्ति को खर्च करता है नहीं तो वह कवि कहलाने का अधिकारी नहीं।

अरुण कमल

सुप्रसिद्ध कवि।

अद्यतन कविता संग्रह
'मैं वो शंख महाशंख'।



निराला और नागार्जुन इसके प्रथम उदाहरण हैं। अभी की श्रेष्ठ कविता में सबकी बोली शामिल है।

(6) भाई मेरे, अगर किसी का प्रतिनिधि संग्रह छप ही जा रहा हो तो क्या एतराज? यह तो अच्छा ही है। कविता के संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि पचीस साल तक ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ेगा। तुलसीदास सरकंडा से लिखते थे तो हम भी वैसे ही लिखें, ऐसा थोड़े है!

(7) कविता की दुनिया में पुरस्कारों- पदों का उतना ही स्थान है जितना शादी में थोड़े समय के बैडबाजे का। हम कविता पर जब भी बात करें केवल श्रेष्ठ कवियों को ही ध्यान में रखें और श्रेष्ठ कवियों के लिए बैडबाजा नहीं, वधू या वर ही दिग्दिगंत है। कीर्ति? एक कवि को और कुछ भी नहीं चाहिए। वह उन लोगों में नहीं जो शवयात्रा में शव पर लुटाए गए सिक्के लूटे।

(8) कला की हर विधा पर व्यवसाय और खरीद-बिक्री का असर होता है, उपन्यास पर भी। लेकिन कविता के स्वभाव, गठन और गुणसूत्र में ही कुछ ऐसा है कि उसका व्यावसायीकरण नहीं हो सकता। हृद से हृद यही होगा कि कोई फिल्मी गाना या विज्ञापन बन जाए। लेकिन इसी के साथ वह कविता के पद से ही च्युत हो जाएगा। इसलिए कविता कभी भी बिकाऊ या बेस्ट सेलर नहीं होती। इधर अंग्रेजी में लिखने का जो फैशन चला है उसमें कहीं भी कविता नहीं है, क्योंकि कविता केवल कथन नहीं है। मलार्मे ने कहा था : पोयट्री इज रिटेन विथ वर्ड्स, नॉट विथ आइडियाज़। तो शब्दों के रोमहास के बगैर कविता संभव नहीं है और उसकी बिक्री नहीं होती। सेक्स बिकता है, प्रेम नहीं - प्रेम न बाड़ी उपजै प्रेम न हाट बिकाय।

(9) मुक्तिबोध ने यह सवाल लेखक की ईमानदारी के संदर्भ में पूछा था। छोटे कवि की अनुभूति सीमित, बड़े की विस्तृत होती है। मुझे तो शेक्सपियर की पंक्ति प्रिय है- ओ आय हैव सर्फंड विथ दोज हूम आय सॉ सफर; मैं हर दुःखी के साथ दुःखी हुआ। केवल अपना, अपने परिवार, अपनी जाति, क्षेत्र, धर्म, देश का नहीं, सबका, एक क्रॉच पक्षी का भी!

(10) कविता जीवन के उस पक्ष को दर्ज करती है जिसे बाकी सब नहीं करते। कविता सबसे कमजोर का गवाह है। कविता सत्य के

अंगोर (वह अंगार जिससे एक चूल्हे से दूसरा चूल्हा सुलगाया जाता है और जिसे बचा कर रखा जाता है) को बचा कर रखती है।

कोई भी न्यायपूर्ण समाज कविता के बिना संभव नहीं है। किसी भी समाज की गुणवत्ता को जानने का एक अचूक तरीका यह भी है कि हम जानें कि उस समाज में कवि और कविता की क्या स्थिति है। इस लिहाज से पूंजीवादी समाज सबसे खराब है क्योंकि वहाँ केवल धन की पूजा होती है और हर पवित्रता को वस्तु बना दिया जाता है, क्यों शाहिद-ए-गुल बाग से बाजार में आवे!

कविताओं की चर्चा में लेन-देन की मुद्राएँ ज्यादा हैं प्रभात त्रिपाठी

(1) हर पाठक समकालीन शब्द का अपने ढंग से अर्थ लगाता है। लगता यही है कि अधिकांश उसे कंटेंपोरेरी के अनुवाद की तरह पढ़ते हैं। पर उसका संबंध आधुनिक युग की जनतांत्रिक मूल्यचेतना, वैज्ञानिकता और समता के बोध के साथ भी जुड़ा है। पिछले कुछ वर्षों से जो लिखा जा रहा है, उसे ही कई लोग समकालीन मानते हैं। वैसे ही कई लोग यह भी कहते हैं कि कबीर हमें समकालीन लगते हैं। जाहिर है, कविता के पहले विशेषण की तरह समकालीन लगाने से, बहुत सारे सवाल अपने आप सामने आएंगे, क्योंकि 'कविता' तो अभिव्यक्ति की एक लगभग आदिम विधा है। अब हिंदी के भी वे सारे शब्द जिनमें कविता लिखी जाती है, काफी प्राचीन हो चुके हैं। इन अतिप्राचीन शब्दों में 'समकालीन' को विन्यस्त करने की सोच कर, कवि कविता लिखते होंगे या

पाठक उसी हिसाब से उसे पढ़ते होंगे, ऐसा मुझे नहीं लगता। मैं सोचता हूँ कि एक पाठक अपने अनुकूलित (कंडीशंड) काव्यबोध के आधार पर ही कविता पढ़ता है। सामान्य पाठक से आपका क्या आशय है, यह मैं नहीं समझ पाया। क्या इसे अनट्यूटर्ड पाठक के अर्थ में ले रहे हैं? हिंदी कविता के पाठक, खास कर समकालीन कविता के पाठक ले-देकर कुछेक हजार छात्र तथा अध्यापक और कुछेक हजार कविगण ही बचे हैं, ऐसा मेरा खयाल है। वे इस तरह की किसी बहस में अपना सिर नहीं खपाते कि कविता को लेकर कौन-सी विचारोत्तेजक बहस विद्वानों और रचनाकारों के बीच चल रही है। हाँ, एक पलट सवाल दिमाग में आया है कि समकालीन पर जोर है या कविता पर?

(2) दूसरा प्रश्न मैं ठीक-ठीक नहीं समझ

पाया। हिंदी कविता के बारे में मेरा इतिहास ज्ञान दयनीय रूप से विपन्न है, अतः इस बात पर कुछ कहना मेरे लिए हिमाकत जैसी बात होगी।

आपने इमर्जेंसी के ठीक बाद की कविता की बात की है और कहा है कि बिलकुल आज की कविता की जड़ें वहाँ हैं। एक लंबी क्रमिकता है। इमर्जेंसी का विशेष संदर्भ आपने एकदम ताजा सांप्रतिक समय के असहिष्णु दौर को देखते हुए लिया है, या कविता के स्वभाव और स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, यह बात स्पष्ट नहीं होती। इमर्जेंसी के ठीक पहले अनेक कवियों के प्रथम संग्रह अशोक वाजपेयी की 'पहचान सीरीज' के अंतर्गत छपे थे। विष्णु खरे, चंद्रकांत देवताले, सौमित्र मोहन, विनोद कुमार शुक्ल, ज्ञानेंद्रपति, जितेंद्र कुमार, कमलेश, सोमदत्त, श्रीराम वर्मा, शिवकुटी लाल वर्मा, विष्णु नागर, जैसे ये सारे कवि इमर्जेंसी के पहले के ऐसे कवि हैं, जो हिंदी के विविधरंगी बहुलार्थी काव्य संसार के जीवंत प्रमाण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसी प्राक्-आपातकाल में विजेंद्र, ऋतुराज, लीलाधर जगूड़ी, प्रयाग शुक्ल जैसे कवियों की गंभीर सर्जनात्मक सक्रियता भी रही है। शायद आपातकाल के बाद या उसी के आसपास राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, वीरेन डंगवाल, अरुण कमल, पंकज सिंह, गिरधर राठी, नंदकिशोर आचार्य जैसे कवियों ने भी कविता के क्षेत्र में नवोन्मेषिनी कल्पना और दृष्टि का प्रमाण प्रस्तुत किया है। मुझे नहीं लगता कि विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी इन कवियों की कविता इमर्जेंसी के बाद इतनी बदल गई थी कि उस कारण उसे 'उस घटना' के बाद से जोड़ कर पढ़ा जा सके। यह जरूर है कि इसके ठीक पहले की 'गोली दागो पोस्टर' या वेणुगोपाल की बहुचर्चित कविताओं की आक्रामक उग्रता की तुलना में ये कविताएँ वास्तविकता से अधिक गहरी मुठभेड़ करती नजर आती थीं। अगर आज की कविता इन्हीं काव्य बीजों का विकास है, तो यह एक अच्छी बात ही है। यह जरूर है, कि अज्ञेय और मुक्तिबोध के बाद की यह कविता,

कुशल सुघड़ता के रास्तों पर ही ज्यादा बढ़ती रही। विषयों के स्तर पर भी विविधता और विस्तार हुआ। खोज की बेचैनी और आत्मविस्तार की गहराई की दृष्टि से ये कविताएँ थोड़ी कमजोर जरूर लगती हैं, पर इनमें खरी ईमानदारी भी है।

वास्तव में आज की या किसी भी समय की कविता, पूर्व काव्य परंपरा से पूरी तरह विच्छिन्न कभी नहीं हो सकती। यह भी कि कविता केवल समय का सृजन नहीं है या केवल सामयिक दबावों से प्रेरित नहीं होती। वह विशिष्ट कवियों के रचनात्मक संघर्ष की विशिष्ट निर्मिति होती है। परंपरा और सामयिकता दोनों के तत्व और सार और कवि-समय भी क्यों नहीं, ये सब एक व्यक्ति कवि द्वारा आत्मसातीकरण की प्रक्रिया से गुजरने के बाद, उसकी अपनी रचनात्मकता का विशिष्ट रूपाकार लेते हैं। यह जरूरी है, कि हिंदी की सारी आधुनिक कविता अपनी घोषित-अघोषित सामाजिकता, वैयक्तिकता प्रगतिशीलता के बावजूद भारत के तेजी से बदलते विकसते मध्यवर्ग के संसार में आज थोड़ी सी भी जगह नहीं बना पाई है। मेरा सोचना तो यह है कि हिंदी भाषी पढ़े-लिखे समाज में पहले की या आज की कोई कविता, किसी तरह की कोई भावनात्मक या वैचारिक हलचल मचा पाने में सक्षम नहीं है। साधारण, अनपढ़, दबे और चुसे लोगों तक कविता की पहुँच अकल्पनीय लगती है। उस जमाने से इस जमाने तक की क्रमिकता, वास्तव में कविता और साहित्य के धंधे में लगे थोड़े सक्रिय, थोड़े महत्वाकांक्षी लोगों की आपसी बातचीत का मामला भर है। संभव है, पूंजीवाद के ट्रिंकल डाउन इफेक्ट की तरह कविता का ट्रिंकल डाउन इफेक्ट जन समाज तक पहुँच जाए।

(3) चालीस वर्षों की कविता की बात पढ़ कर मुझे लगा कि यह समय भी इमर्जेंसी के आसपास का समय ही है, यानी शुरुआती वक्त। कविता का मूल्यांकन करने वालों ने गंभीरता से कभी कोई काम किया है, ऐसा मुझे नहीं लगता। इस दौर की कविता की प्रवृत्तियों की जगह, अगर

पीढ़ियों पर बात होने लगी तो शायद इसमें हर उस पीढ़ी का भी थोड़ा-बहुत प्रत्यक्ष-परोक्ष योगदान तो जरूर होना चाहिए, जिस पर बात हो रही थी। पिछले चालीस वर्ष की पूरी कविता, यानी आज तक की कविता जिस ढंग से, जिन तौर तरीकों से चर्चित होती रही है उसमें लेन-

देन की मुद्राएँ ही ज्यादा सक्रिय रही हैं। एक महत्वपूर्ण बात यह है कि पिछले बीस-पचीस सालों में नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था की आपकी स्वीकृति के बाद वर्चुअल रियलिटी, इंटरनेट के दबावों के बीच, सांभ्यतिक, सांस्कृतिक स्तर पर जो परिवर्तन घटित हुए, आर्थिक बदहाली की जो नई विकरालता सामने आई, उस यथार्थ की जटिलता और विकरालता की समझ और संवेदना से रिक्त, कविताओं के अधिकांश मूल्यांकनों में प्रवृत्तिगत गंभीरता की खोज एक जरूरी खोज की तरह नहीं दिखती।

उत्तर-मुक्तिबोध कविता अधिकांशतः काव्य कुशलता की कविता है, आवयविक और आंतरिक बेचैनी की नहीं। यह मध्यवर्ग के कवियों की सदाशयता की कविता भी है और थोड़े मुखर ढंग से प्रगति की पक्षधरता की भी। यह भी कहा जा सकता है कि काव्य विषय ही नहीं, शिल्प की विविधता की दृष्टि से भी यह थोड़ी संपन्न कविता है। आखिर में यह कि यह सारा बयान एक कमपढ़ पाठक का त्वरित बयान ही है।

(4) 'समकालीनता' का मुहावरा 'रूढ़' हो चुका है का एक अर्थ शायद यह हो सकता है कि समकालीनता मात्र एक मुहावरा भर है। मुहावरे के अर्थ में, या कुछ प्रचलित रिवाजों के अर्थ में 'समकालीन' होने को ग्रहण करने वाले कवि उसे देर-सबेर एक काव्य रूढ़ि ही बना देते हैं। कहना यह चाहिए कि अधिकांशतः समीक्षक ही यह काम करते हैं और जाने-अनजाने कवि उनसे प्रभावित, प्रेरित होते रहते हैं। एक दूसरी बात यह भी है कि काव्य रूढ़ियों और कवि समयों का (शास्त्रीय अर्थ में) सर्जनात्मक उपयोग भी होता

प्रभात त्रिपाठी

प्रमुख आलोचक।

अद्यतन पुस्तक

'किस्सा बेसिरपैर' (उपन्यास)



रहा है। मैंने जिन कवियों का जिक्र किया (इसलिए कि इन सबके बारे में मेरी थोड़ी बहुत जानकारी है) उनमें से अधिकांश ने समकालीनता को मूल्यचेतना के स्तर पर और आनुभविक आत्मसातीकरण के स्तर पर ग्रहण करने की कोशिश की है। इसमें वे कितना सफल हुए हैं, यह एक अलग सवाल है। बहुत से ऐसे कवि भी हैं जो काफी पेशेवर तरीके से 'समकालीन' को कुछ हिकमतों और सूत्रों में बदल देते हैं। सार्थकता की खोज में सर्जना की ओर उन्मुख होने वाले कवियों में भी बाजवक्त, 'समकालीनता का बोध' थोड़ा डायल्यूट होता-सा दिखता है। समकालीनता को मुहावरे के रूप में ग्रहण करना, कवि 'बने' रहने वालों की खासियत हो सकती है, खरे कवियों की नहीं। खरा कवि कौन है, इसका निर्णय आलोचक नहीं, वक्त करता है। आज की जो कविता, वक्त की इस कसौटी पर खरी उतरेगी, वह मुहावरे में नहीं, अपनी रचनात्मकता में हर वक्त के लिए समकालीन होगी, जैसे कई मायनों में कबीर आज भी हैं। इससे जुड़े एक उप प्रश्न के बारे में दो टूक कहना चाहूंगा कि समकालीन समय की जो सांभ्यतिक-सांस्कृतिक विकरालता है, उसे पाठक सांप्रतिक कविता में विन्यस्त नहीं पाता। समकालीन संसार के विकराल जटिल स्वरूप के मध्यवर्गीय इम्प्रेसंस की तरह ही आज की कविता को पढ़ा जा सकता है, बेशक काव्यानुभूति और कल्पनाशीलता के मार्मिक प्रभाव भी इस तरह की कविता में थोड़े-बहुत हैं।

(5) काफी पहले से परिनिष्ठित हिंदी का एक रूप, थोड़े बहुत परिवर्तन-संशोधन के साथ लिखित मुद्रित साहित्य में व्यवहृत होता रहा है। इसी

परिनिष्ठित भाषा में कई बार विभिन्न अंचलों की शैलियों और शब्दावलियों का प्रवेश भी होता रहा है। मध्यवर्ग की लिखित भाषा का यह रूप हिंदी भाषी पढ़े-लिखे समाज के शिष्ट व्यवहार में प्रचलित है। बेशक जीवन व्यवहार में विभिन्न अंचलों की बोलियों का इस्तेमाल करने वाले लोग, इस परिनिष्ठित भाषा की तुलना में काफी ज्यादा हैं। पढ़े-लिखे लोग परिनिष्ठित हिंदी में ही काम करने लगे हैं। थोड़ी अतिरिक्त शब्द संपदा के साथ यह हिंदी लेखकों-कवियों के लेखन में भी है। थोड़ी कठिन शब्दावली और जटिल संरचना और रूखड़ गद्यात्मकता के कारण, पढ़े-लिखे हिंदी भाषी समाज का एक बड़ा हिस्सा हिंदी की गंभीर कविता से बिदकता है और कम कठिन भाषा के चुटकुलों को कविता की तरह इस्तेमाल करने वाले कवियों पर यह समाज रीझता है।

आम समाज से अगर आप शहरी मध्यवर्ग के खाते-पीते, मौज मनाते लोगों की ओर संकेत कर रहे हैं, तो सचाई यह है, कि इस समाज को कविता में नहीं, बल्कि फूहड़ मनोरंजन में ज्यादा दिलचस्पी है। यह समाज चुटकुलों की भाषा में, कविता को समझता है। विषय चाहे राजनीति का हो, चाहे औरत का, चाहे गरीबी का, यह ताली बजवाने वाली, वाह-वाह करवाने वाली भाषा को स्वीकार करने वाला समाज है। यह एक अच्छी बात है कि इस अंधाधुंध उपभोग और उत्पादन के धंधे में लगे लोगों तक पहुँचने में हिंदी की गंभीर कविता को आधुनिक युग के आरंभ से ही कोई रुचि नहीं थी। आधुनिक युग के प्रवर्तक कवियों के समय से ही उपभोगवादी उपयोगिता की दृष्टि को सर्जनात्मक साहित्य के केंद्रीय प्रयोजन के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। वास्तव में आज की कविता से समाज की दूरी के कारणों को केवल कवियों की भाषा के ऊपर नहीं थोपा जा सकता। शिक्षा संस्थानों में अनेक समकालीन कवियों की कविताएँ पढ़ाई जाने लगी हैं। कई समकालीन कवियों पर शोध कार्य संपन्न किए जा चुके हैं। इन सबके बावजूद, न कवि को इस बात

में कोई दिलचस्पी है कि वह अपनी कविता को व्यापक समाज तक पहुँचाने में किसी तरह की कोई पहल करे और न ही उस बाजार को इसमें कोई दिलचस्पी है या हो सकती है कि वह कविता को भी घर-घर तक पहुँचने वाली प्रक्रिया का हिस्सा बनाए। वास्तव में कविता व्यापक समाज के संस्कार विचार का हिस्सा, पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संस्थाओं के निरंतर प्रयत्नों से बनती है।

क्या कभी कोई इस तथ्य पर गंभीरता से विचार करना चाहेगा कि धार्मिक कविता, थोड़ी लोक कविता और ज्यादा फिल्मी कविता, कितने असरदार ढंग से व्यापक समाज की मानसिकता का हिस्सा बनती रही है और आज भी बन रही है?

(6) यह जरूर लगता है कि हमारा वक्त तेज चलने वालों का है। शायद कविगण भी जल्दी में हैं, इसीलिए प्रतिनिधि संग्रह जल्दी आ रहे हैं। हर बात पर तत्काल प्रतिक्रिया और कई बार कविता में प्रतिक्रिया करने का रिवाज काफी पहले से चल रहा है। प्रतिनिधि संग्रह जल्दी छप गया, तो जल्दी प्रसिद्धि मिलेगी, ज्यादा प्रसिद्धि मिलेगी। ज्यादा प्रसिद्धि मिली तो उससे जुड़े दूसरे फायदे हो सकते हैं। अपनी क्या राय दूँ, मैं तो अगर चाहूँ तो भी अपना प्रतिनिधि संग्रह नहीं छपा सकता। जो छपाते हैं, छपाएँ और अपने-अपने प्रभु के गुन गाएँ।

(7) संस्थाओं और पुरस्कारों पर बात होती है और होती रहेगी। संस्थाओं और पुरस्कारों की संख्या बढ़ी है। इसलिए कवियों की और कविताओं की संख्या भी बढ़ी है। अब बिलकुल छोटे-छोटे कस्बों में ऐसी संस्थाएँ हैं- जो कवियों को पुरस्कृत करती हैं। मुझे लगता है कि अपने आप में यह बात उत्साहवर्धक है कि कविता को पुरस्कृत करने की एक परंपरा हिंदी में जारी है। जरूरत इस बात की है कि इन संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत कवियों की कविताओं पर भी थोड़ी बातचीत हो। पुरस्कार के निर्णायकगणों द्वारा इसकी पहल हो कि लोग जान सकें कि पुरस्कृत कवि या कविता में ऐसे

कौन से गुण हैं जो साहित्य और समाज के लिए महत्वपूर्ण हैं। चयन प्रक्रिया अगर रुचि-आधारित भी है, क्योंकि एक हद तक तो वह होगी ही, तो भी उसमें पारदर्शिता हो और चयनकर्ता के विचारों से अन्य कवियों, पाठकों को भी अवगत कराया जाए।

मेरे खयाल से समाज के हाशिए पर भी अपनी जगह नहीं बना पाने वाली, फिर भी कवियों की जिजीविषा और रचनात्मकता के चलते जारी और सक्रिय रहने वाली हिंदी कविता को सम्मानित और पुरस्कृत किए जाने की परंपरा एक स्वस्थ परंपरा है, बशर्ते कि वह लेन-देन के पारस्परिक आदान-प्रदान का मामला भर न बन जाए।

(8) बाजार का प्रभाव आज हर किसी पर है। बाजार जिस तेजी से जीवन विधि को प्रभावित कर रहा है, उसका असर व्यक्ति के मन पर भी देर-सबेर पड़ता है। लेकिन क्या आपके इस प्रश्न का आशय यह है, कि कवि बाजार की मांग पर कविता लिख रहा है? इस पर मुझे लगता है कि सफल कवियों को प्रसिद्धि और कुछ हद तक सुविधा भी मुहैया कराने वाली कविता बाजार की जरूरतों को देखते हुए कोई लाभदायक स्थिति आज भी नहीं रखती। यानी आधुनिक बाजार को कविता की जरूरत नहीं है। कवि सफल चित्रकारों की तरह इतने सौभाग्यशाली नहीं हैं कि उनकी कविताओं को वैसा बाजार मिले जैसा चित्रकारों को मिला हुआ है। कहा यह भी जाना चाहिए कि अपनी कला को बेच पाने के मामले में, वे संगीतकारों से भी पीछे हैं। आशय यह है कि अभी 'कविता' बाजार में बिकने लायक चीज नहीं बन पाई है।

बाजार-विरोधी कविताओं का एक दौर था, और अभी भी शायद वह है। कविताओं में बाजार-विरोध के विषयों की विविधता के बावजूद अधिकांश कविताओं में बाजार की गतिकी की और उसमें सक्रिय जटिलता की पैनी समझ नहीं है। वह अधिकांशतः आत्माभियोगी संशय से थोड़ी

दूर या कि लगभग रिक्त होकर लिखी गई कविताओं की तरह लगती है। फिर भी यह लगता है कि न सिर्फ बाजार के विरुद्ध, बल्कि यथास्थिति की राजनीति और जनजीवन पर काबिज होती तानाशाही के विरुद्ध हिंदी कविता विविध और प्रभावी स्वरों में सक्रिय रही है और आज भी है। जीवन विधि के बाजारमय हो जाने के बावजूद, निरंकुशता और तानाशाही की राजनीति के सम्मुख लगभग समर्पित उपभोक्ता मध्यवर्ग का हिस्सा होने के बावजूद, हिंदी कविता की मानसिकता समझौते की नहीं, संघर्ष की मानसिकता रही है और आज भी है, ऐसा मेरा खयाल है।

(9) आत्मजीवनी के अनुभव ही कविता या कला के रचनानुभव नहीं होते और अगर परिवार से लेकर, बाजार, संचार और सरकार तक, तरह-तरह की विधियों से लोगों के सोच-विचार पर काबिज होने के लिए आमादा हों तो एक हद तक अनुभव का या इसके निहितार्थों का भी अनुकूलन संभव हो सकता है। पर प्रतिभावान, कल्पनाशील और चिंतनशील कवि अपने अनुभवों की कैद में रह कर कविता नहीं लिखते। वास्तव में कवि का वास्तविक रचनात्मक संघर्ष इसी स्तर पर देखा जाता है कि वह कैसे व्यापक जन समुदाय की भाषा को, अपनी रचनात्मकता की भाषा बनाता है। कवि कर्म का रास्ता हमेशा से एक गहरी इम्पैथी का, परकाया प्रवेश का, आत्मान्वेषण और आत्मविस्तार का रास्ता रहा है। अगर कोई कवि इस रास्ते पर ईमानदारी से चलेगा तो उसकी कविता निश्चय ही हर तरह के अनुकूलन का अतिक्रमण करेगी।

(10) कविता मानवीय सृजनात्मकता का एक अनंत प्रयत्न है। वह अपने समाज और समय को, जो और जैसा वह है, सृजनात्मकता की ऐसी ही अनगिनत राहों पर चलते रहने के लिए उद्बुद्ध करती है। यह अलग से कहने की जरूरत नहीं कि हर तरह की सृजनात्मकता प्रथमतः आत्मानुभूति और अंततः मूल्यानुभूति है।

विचारधाराओं के सतही ज्ञान ने असीमित संभावनाओं के दरवाजे बंद कर रखे हैं

लीलाधर मंडलोई

(1) पाठक का भी समकाल होता है जिसे वह आलोचना की भाषा में भले न समझता हो; लेकिन वह जानता है। उसका समकाल सीमित और संकुचित नहीं होता। उसमें उसे मिली दुनिया शामिल होती है जो विशेष कालावधि में कैद नहीं है। उसके आस-पास सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक, भौगोलिक, आर्थिक दुनिया का अपना मानचित्र होता है जो जरूरी नहीं कि निकट अतीत तक महदूद हो। वह कबीर, तुलसी, दादू, रैदास के साथ होता है तो खुसरो, मीर, गालिब, शीनकाफ निजाम और दुष्यंत के साथ भी। उसे गुलजार, निदा फाजली भी अच्छे लग सकते हैं और नीरज भी। इसी तरह अन्य क्षेत्रों में गांधी, तिलक, अंबेडकर आदि भी, अन्य विषयों और इलाकों में बने उसके बोध से जोड़ कर इसे देखें तो मालूम होगा कि उसका समकाल लोक से आधुनिक दुनिया तक जाता है। उसकी समकालीनता हमसे बड़ी भी हो सकती है और कहीं सीमित भी। वह वाचिक और लिखित के साथ दृश्य-श्रव्य माध्यमों से बनी है। मुझे नहीं लगता कि उसे साहित्य की एकध्रुवीय समकालीनता को समझाना चाहिए। वह लिखता नहीं केवल पढ़ता या सुनता है। हमें अपनी समकालीनता को उसके स्तर से पहले पढ़ लेना चाहिए, फिर फिक्रमंदी का स्वरूप बदल जाएगा। कोई आश्चर्य नहीं कि आपकी समकालीनता की अवधारणा पुरानी या बासी लगने लगे।

(2) यह एक अकादमिक थीसिस लगती है। आज की कविता में मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन अधिक आज के लगते हैं। निराला की कविताओं में क्या

समकालीनता की गवाही नहीं मिलती? मैं अनुभव करता हूँ कि हमने सुविधा के लिए एक खास राजनीतिक डिपार्चर बिंदु या दर्शकों की राजनीति से ही समकालीन कविता को पढ़ा है। आज कबीर की कविता की मुझे ज्यादा जरूरत अनुभव होती है। ऐसे कई कवियों के बिना समकालीनता तय करना संभव नहीं लगता।

मेरी स्मृति में आज की कविता सिर्फ इमरजेंसी के साथ ठोस आकार ग्रहण नहीं करती, इसे आप मेरी कमी या अज्ञान मान लें।

(3) पिछले 40 सालों में जो दशकवार विभाजन हुआ या कहें काल विशेष के कवियों के आस-पास जो अकादमिक किस्म का मूल्यांकन हुआ उसके संदर्भ में पीढ़ियाँ बनाई गईं जो अपने शक्ति-केंद्रों के कारण प्रबल होती गईं। उस मूल्यांकन में उस दौर के कई महत्त्वपूर्ण कवि हाशिए पर चले गए क्योंकि वे कवियों की रणनीतिक राजधानी से बाहर दूर-दराज इलाकों में सृजनरत थे। मूल्यांकन की इस प्रवृत्ति ने कविता का नुकसान किया है जो अब भी जारी है। इसे मैं गढ़ी या बनाई गई क्रमिकता ही मानता हूँ और मूल्यांकन के इस चरित्र पर संदेह करता हूँ।

(4) मैं इस प्रश्न से सहमत हूँ। मुहावरे की रूढ़ता कुछ शक्ति केंद्रों की देन है। यह दृष्टि और विजन में आए क्षरण का परिणाम है। इस रूढ़ि के प्रतिरोध में कोई मुकम्मल संवाद और बहस नहीं है। यह पीढ़ियों द्वारा निर्मित कविता-इमारत में आलोचकों के रहने का आरक्षित आवास है। इस आवास में रहते हुए श्रम करना कठिन है, प्रतिरोध की बात तो दूर है। यह चलता रहेगा, जब तक कोई ईमानदार और बेलाग मूल्यांकन का खतरा

नहीं उठाता।

(5) कविता से अधिक कवि की सामाजिक भूमिका जरूरी है। अगर वह बड़े अर्थों में समाज के साथ नहीं है तो उसकी भाषा समाज की भाषा नहीं बनेगी। उसे समाज में उपलब्ध भाषा और बोलियों का सहयात्री बनना होगा। भले ही वह अखिल भारतीय न होकर लोक विशेष का रहवासी हो। वहीं से उसे भाषा-बोली-समाज में जाना होगा जो विस्थापन की वजह से छूट गया है। लौट कर अपनी जगहों में भले ही कम आएँ, स्मृतिलोक में एक आश्रय कविता में अब भी लोग ढूंढते हैं। मुमकिन है मेरी यह बात कमजोर ही लगे, मैं अपने स्तर पर यही सोच पाता हूँ। कहने को स्थापनाओं के घटाटोप में हमारी आवाज धीमी है, लेकिन इसमें सच है। आज लोक या हाशिए के समाज का कोई कवि अपनी एक सामाजिक पहचान रखता है लेकिन नगरीय कवि इंस्टीट्यूट में ही कुछ पहचाने जाते हैं। इसके बाहर तो खुदा गवाह...!

(6) धैर्य की कमी और निजी साहस के कारण प्रतिनिधि कविताओं के संकलन जल्दी आ रहे हैं। कुछ यह शाश्वत रूढ़न है कि कविता की किताबें नहीं बिकतीं। डिजिटल युग में पैसा लेकर सौ-पचास कॉपी छापने में कौन-सा बड़ा घाटा होगा। ऐसी किताबें तो नियमित सूची पत्र या प्रचार-प्रसार का हिस्सा भी नहीं होतीं। यह 'टू वे ट्राफिक' है- लेखक और प्रकाशक का। पाठक इसमें कितना शामिल है, उस तक तो कोई सूचना मार्ग भी नहीं बनता। ऐसी प्रायोजित किताबों का क्या होता होगा, मालूम नहीं।

(7) पुरस्कृत होने से कोई साहित्य में महत्वपूर्ण नहीं होता। उसके किए-धरे का सच्चा मूल्यांकन वहाँ नहीं होता। आज एक कवि के पास छोटे-मोटे दो-चार पुरस्कार होना सहज बात है। मैं पुरस्कारों के खिलाफ नहीं हूँ, लेकिन किसी पुरस्कार का इतना मान तो हो कि आलोचक मूल्यांकन करें या ना करें, कम-से-कम उसके लिखे की

लीलाधर मंडलोई
जानेमाने कवि।
अद्यतन कविता संग्रह 'भीजै
दास कबीर'।



तरफ जाएँ और पढ़ें तो। अगर ऐसा नहीं हो रहा है तो पुरस्कारों को फिर से मूल्यांकित करना चाहिए। कवि की कविता का मूल्यांकन कोई-न-कोई करेगा, अगर कविता में ताकत हुई। इसे समय पर छोड़ देना चाहिए। इतिहास की छलनी निर्मम है। यह उसी कवि को जगह देगी जो उसकी कसौटी पर खरा उतरेगा।

(8) पहला सवाल तो यह है कि जिस बाजार का विरोध दीख रहा है, कवि उसकी सूक्ष्म काया में प्रवेश कर पाया है या नहीं। दीख रहे बाजार की अंतर्तर्हों में जो दुष्चक्र है और वहाँ के नियंताओं के जो षडयंत्र हैं उन्हें आप कितना जानते हैं। बाजार सदियों से नए-नए रूपों में शक्तिवान हैं। उनकी शक्ति बढ़ती जा रही है। वे कुशलतम आक्रमणकारी हैं। उसके पास तंत्र की ताकत है। हम कविगण कविता में कोई काट इसलिए नहीं पैदा कर पा रहे हैं कि उनकी जड़ों की ताकत का विरोध नहीं कर रहे हैं, सिर्फ उसकी शाखाओं-तनों का विरोध कर रहे हैं। यह लड़ाई या विरोध नहीं, रिएक्शन अधिक है। बाजार अपने हितों के लिए मनुष्य मात्र का नहीं बल्कि इस सृष्टि का दोहन कर रहा है। हमारे विरोध का दायरा बाजार की सतही कार्रवाइयों के खेल तक है यानी जो दृश्य में है उसका विरोध। बाजार के अदृश्य दुष्चक्र के खिलाफ क्या और कितना लिखा जा रहा है, उसे देखने का विजन अर्जित करना होगा। बाजार की संपूर्ण सृष्टि में हजारों-लाखों भुजाएँ हैं। ये कहाँ क्या घात करती हैं, हम अच्छी तरह नहीं जानते।

(9) कवि अनुभव जरूरी है, लेकिन कवि की

पूर्व स्मृति में इमेज होते हैं, दृश्य हैं, इमेज आडिओ के फॉर्म में भी हैं। बचपन से ये इमेज जमा होते हैं- समस्त भूलोक और ब्रह्मांड से। कवि अपने समय में इन सबके साथ नई चुनौतियों, विषयों, प्रसंगों, घटनाओं, त्रासदियों से इमेज ग्रहण करता है; उनके साथ एक रचनात्मक संवाद करता है। वह अनुभवों के लिए अपने सीमित ज्ञात से असीमित अज्ञात की तरफ जाता है। जो कवि ऐसा करता है, उसके काव्य अनुभवों में अनुकूलन की छायाएँ नहीं होतीं। ऐसा ही कवि फॉर्म के अनुकूलन से, भाषा के अनुकूलन से दूर रहता है। कभी-कभी लगता है, विचारधाराओं के सीमित पाठ और धूमिल विजन ने भी अनुकूलन की स्थितियों को जन्म दिया। विचारधाराओं के सतही ज्ञान ने असीमित संभावनाओं के दरवाजे बंद कर रखे हैं। कविता और मनुष्य मात्र के लिए आज पर्यावरण, युद्धजनित स्थानिक अस्मिताओं का क्षरण, ब्रह्मांड में सेंधमारी, बदलते ऋतु चक्र के आपाद संकट, परमाणु हथियारों का आतंक, हिंसा, आतंकवाद सरीखी कई चुनौतियाँ पैदा हुई हैं,

जहाँ तक कवि की पहुँच नहीं है। अगर सृष्टि नहीं बची तो क्या कुछ बचेगा, यह सोचना जरूरी है। कवि को कविता के इन अज्ञात संकटों के अनुभव के लिए नया उत्खनन, अध्ययन, अनुसंधान करना है। उसमें वैज्ञानिक चेतना पहले से अधिक अपेक्षित है।

(10) कविता बदलते समय के संकटों में अगर गहरे चश्मदीद की तरह भूमिका निभाती है, प्रतिरोध की शक्ति अर्जित करती है और समूची सृष्टि के लिए सीमित विजन में ही सही खड़ी होती है, तभी उसका अर्थ, उसकी भूमिका बनती है। उसे सृष्टि से बड़े अर्थों में सच्चा प्रेम करना होगा। प्रेम में क्या कुछ किया जा सकता है, यही उसकी भूमिका हो सकती है। बकौल मुक्तिबोध 'खोजता हूँ पठार... पहाड़... समुंद्र/ जहाँ मिल सके मुझे मेरी वह खोजी हुई/परम अभिव्यक्ति अनिवार आत्म संभवा।' मुक्तिबोध भू-लोक की ही नहीं, ब्रह्मांड तक की यात्रा करते हैं। इतनी बेचैन रूह होनी चाहिए, इतना गहरा प्रेम होना चाहिए, यह सत्यार्जन के लिए परम आवश्यक है।

कमजोर की चीख भी हस्तक्षेप करती है

कुमार अंबुज

(1) समकालीन कविता का अर्थ 'एक समय में लिख रहे कवियों की कविता भर से नहीं बल्कि अपने समय, काल की प्रमुख प्रवृत्तियों और यथार्थ के संदर्भ में भी' देखा जाना चाहिए।

'साहित्य समाज का दर्पण है', इस उक्ति से आगे मुक्तिबोध ने कहा था, 'जीवन विवेक ही साहित्य विवेक है'। इस जीवन विवेक का शामिल होना, समकालीन कविता की प्राणशक्ति है, उसका केंद्रक है और धुरी है। इस विवेक में विचारशीलता, प्रतिबद्धता और प्रतिरोध के तत्व शामिल हैं। यह सत्ता संरचनाओं के विरुद्ध है और वंचित, उपेक्षित समाज के साथ स्वाभाविक रूप से खड़ी है। ये

कारण और लक्षण मिलजुल कर उसे 'समकालीन कविता' बनाते हैं। यदि ये अवयव आज किसी कविता में अनुपस्थित हैं तो कविता एक पुरानी, बीत गई और बासी कविता हो सकती है, स्मृतिजीवी, ऐंद्रजालिक या पुनरुत्थानवादी हो सकती है, समकालीन नहीं।

आज दलित-अल्पसंख्यक-स्त्री-किसान विमर्श, भूमंडलीकरण-पर्यावरण के प्रश्न हमारे सामने हैं। व्यक्तिगत जीवन, रिश्तों, घर, गली-बाजार से लेकर समाज, प्रांत, देश और संसार में पड़ रहे प्रभावों को जाने-समझे बिना समकालीनता का चित्र पूरा नहीं होगा। पूंजीवाद, उपभोक्तावाद

और सामाजिक अन्याय ही नहीं समानता, बहुलतावाद और लोकतांत्रिकता जैसे सवालों से भी बच कर कवि रह नहीं सकता। समकालीन कविता समकालीन विमर्शों के बिना संभव नहीं है।

समकालीनता जितनी स्थानीय होती है, उतनी वैश्विक भी। इसी वजह से अच्छी समकालीन कविता व्यापक अर्थों में एक राजनीतिक कविता भी होती है। इस बात में अंतर्विरोध नहीं है। समकालीनता एक बाड़ा भी बना सकती है, इसलिए उस काल में रहते हुए, उसे पार भी करना होता है। समकालीनता के लिए परंपरा को समझना जरूरी है। समकालीनता कोई स्थिरांक नहीं है, वह अपने वर्तमान में अनवरत है। उसमें इतिहास तथा भविष्य दोनों के सबक और चुनौतियाँ शामिल हैं। किसी भी श्रेष्ठ समकालीन कविता में अनुभव और आशा, दोनों कलापूर्ण तरीके से गुंथे होते हैं।

(2) इसकी जड़ें निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और रघुवीर सहाय से भी जुड़ी हैं। इमरजेंसी के बाद आई कविता से भी कुछ संबंध दिख सकता है लेकिन उसके ठीक पहले की कविता यानी केदारनाथ सिंह, चंद्रकांत देवताले और विष्णु खरे की कविता से भी इसका संबंध है। कहना यह है कि हिंदी कविता की लंबी परंपरा के क्रम में ही समकालीन कविता को देखा-समझा जाना चाहिए।

(3) काव्य प्रवृत्तियों का स्थान पीढ़ियों के लेने के मूल में आलोचना का अपना आलस्य है और श्रमसाध्यता की कमी है। कवियों के बीच से भी आलोचना कर्म नहीं हुआ। एक फौरी, सुविधाजनक और चलताऊ बातचीत का परिणाम यही हो सकता था।

(4) पिछले डेढ़-दो दशकों में समकालीनता का मुहावरा इसलिए समस्याग्रस्त लग सकता है कि इक्कीसवीं सदी में युवा कविता का स्वर हमारे जन, जीवन और संघर्षों को अलग रख कर कविता रचने से कुछ सीमित हुआ है। कलावाद के करीब



कुमार अंबुज
चर्चित कवि।
अद्यतन पुस्तक 'इच्छाएँ'
(कहानी संग्रह)।

जाने के कुछ चोर-दरवाजे खोजे गए हैं, उन्हें नएपन की तरह प्रचारित किया जा रहा है। सूक्तियों, उपदेशों और आम वाक्यों से कविता लिखने की वायवीय कोशिश भी दिखती है। लेकिन इस सबके बीच प्रभात, मनोज कुमार झा, चेतनक्रांति, अनिता वर्मा, नीलेश रघुवंशी, अनुज लुगुन, अदनान कफील दरवेश सरीखे अनेक अन्य कवियों की कविताएँ इस समकालीनता को बेहतर प्रदर्शित करती हैं।

(5) आज की काव्य भाषा अधिकांश में खड़ी बोली है। लेकिन इसमें क्षेत्रीय और देशज बोली का काफी समावेश है। भोजपुरी, मालवी, बुंदेलखंडी, राजस्थानी बोली-भाषा और डिकशन को जगह मिली है, इसलिए खड़ी बोली की कविता आम समाज की भाषा से दूर नहीं है। मगर जब आप हिंदी में कविता लिखेंगे तो केवल बोलियों या देशज भाषाओं में तो नहीं लिखेंगे। आज की हिंदी कविता की भाषा क्लिष्टता या तत्सम का शिकार नहीं है। अरुण कमल, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी से लेकर बद्रीनारायण, देवीप्रसाद मिश्र, एकांत श्रीवास्तव, कात्यायनी, आशुतोष दुबे, शिरीष मौर्य, निर्मला पुतुल, कुमार वीरेंद्र तक लगभग सभी की कविताओं में आम भाषा का ही उपयोग है।

(6) यह प्रकाशकीय उपक्रम ज्यादा है। 'कवि ने कहा' जैसी सीरीज में यह कुछ हद तक लक्षित किया जा सकता है। संभवतः राजकमल प्रकाशन की 'प्रतिनिधि कविता' शृंखला में यह अतिरिक्त नहीं है। वहाँ वरिष्ठता क्रम का कुछ उल्लंघन जरूर हुआ है। सिर्फ प्रतिनिधि संकलन की वजह

से कोई इतिहास में दर्ज नहीं होता। किसी भी प्रकाशन से कोई श्रेष्ठता का निर्णय नहीं हो जाता, यह बात सभी के सामने स्पष्ट है।

(7) पुरस्कार दो कारणों से महत्वपूर्ण होते आए हैं। पहला- जूरी की श्रेष्ठता। दूसरा- उनको प्राप्त करने वाले रचनाकारों की सूची। इनमें जरा भी पराभव या विचलन दिखता है तो पुरस्कारों की महत्ता कम होती चली जाती है। इधर अनेक पुरस्कारों में विवाद ही हुए हैं।

(8) कविता बाजार विरोधी नहीं, बाजारवाद विरोधी है और उचित ही है। बाजार का विरोध दरअसल उपभोक्तावादी संस्कृति, पूंजीवाद के संदर्भ में समझा जा सकता है। बल्कि महसूस यह हो रहा है कि इधर उभरे कुछ कवियों की कविता में बाजार, विज्ञापन और उपभोक्तावाद विरोध का विषय कुछ उपेक्षित-सा होता दिख रहा है।

(9) यह रास्ता हर कवि को अपने ढंग से खोजना पड़ता है रिल्के की एक कविता, 'फॉर द सेक ऑव ए सिंगल पोएम' इस संबंध में कुछ बेहतर प्रकाश डालती है कि एक कविता के लिए कितने अनुभवों और जीवन के पक्षों से गुजरना

पड़ता है। रामचंद्र शुक्ल का एक क्लासिक वाक्य याद आता है कि ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएंगे, कवि कर्म कठिन होता जाएगा। परंतु एक बेहतर कविता में जीवनानुभव की काव्यात्मक परिणति होती है। आवेग, भाषा, व्यग्रता और जीवनदृष्टि की भी भूमिका है। कविता एक व्यापक समुच्च है।

(10) कविता बताती रही है कि कमजोर की चीख भी हस्तक्षेप करती है। अन्याय और यातना के बारे में जानना, उसके प्रतिरोध के लिए तैयार होना भी है। शब्द की सत्ता मनुष्य की मदद उसी तरह कर सकती है, जैसे कोई जीवित और सक्रिय सत्ता। यह भरोसा और यह आशा कविता की भूमिका को हमेशा प्रासंगिक बनाती है।

एक जवाब यह भी हो सकता है, 'संसार में यदि एक चींटी के होने का कोई अर्थ है, मधुमक्खी होने या एक कमजोर आदमी के बने रहने की कोई अर्थवत्ता, व्यर्थता, जरूरत और संघर्ष है तो वही अर्थ कवि होने और कविता की भूमिका का भी है और यह एक बड़ी भूमिका है।'

मो. 9424474678

वागर्थ के सदस्यों - ग्राहकों से निवेदन

- वागर्थ के वार्षिक/त्रैवार्षिक/पंचवार्षिक/आजीवन सदस्यों- ग्राहकों से अनुरोध है कि वे अपना पता, अपना मोबाइल नं. और यदि है तो अपना ई-मेल आई डी कृपया 08240339963 पर भेजें, ताकि यदि सदस्य-सूची में कोई भूल है तो हम सुधार कर लें।
- नई सदस्यता या बिक्री संबंधी किसी जानकारी के लिए उपर्युक्त मोबाइल नं. पर संपर्क करें।
- यदि आपकी सदस्यता समाप्त हो गई है, भारतीय भाषा परिषद, 'वागर्थ' के नाम से ड्राफ्ट/चेक भेजें। सदस्यता नवीनीकरण नहीं कराने पर हम पत्रिका भेजने में असमर्थ होंगे।
- डाक व्यवस्था के कारण हमारे सदस्यों को अंक मिलने में तीन सप्ताह या कई बार ज्यादा दिन लग जा रहे हैं, जिसके लिए हमें खेद है। यहाँ से पत्रिका सदस्यों को हर महीने नियम से भेजी जा रही है।

कविताएँ



ज्ञानेंद्रपति

सुपरिचित कवि।

अद्यतन कविता संग्रह

‘मनु को बनाती मनई’।

ललमटिया में लहू के दाग नहीं दिखते

कहते हैं कि कोई ऐसा जोरावर जलजला आता है कभी
कि अपनी कब्रों में
ताबूतों में बंद सीधे लेते मुर्दे
बेआवाज कराह के साथ करवटें ले उठते हैं
लेकिन यहाँ हाल यह है कि
अगर्चे आ भी जाए कोई जब्बर से जब्बर जलजला
क्या मजाल कि हिला भी दे
जीते जी दफन उन पांच मजदूरों को
अकूत टनों करियाही मिट्टी के नीचे
मुड़े-तुड़े जो दबे पड़े हैं आंखें पथराए
खनिक हैं वे - श्रमिक
ईस्टर्न कोलफील्ड्स लिमिटेड की भोड़ाय खदान-
कहते हैं जो इस महादेश की सबसे बड़ी खुली खदान है
उसमें खनने-खटने वाले मजदूर
कोयले की धूल से करियाये फेफड़ों वाले
नृशंस लालच के कशाघातों और-और ठेले जाते अंदर
खँखोरने को खनिज
पेटू ट्रकों की प्रतीक्षा जल्द-से-जल्द पूरने को
मुस्तैद रहते हैं सुपरवाइजर
नहीं, देवी लक्ष्मी के उपासक नहीं वे
‘महालक्ष्मी’ के मुलाजिम हैं
जो एक आउटसोर्सिंग कंपनी है गुजरात की

झारखंड की ललमटिया-खदानों की खनन-ठेकेदार
आंखें चुराए आरर कगार से
उभरती दरार से
उसे तो चाहिए बस और और और
और...

अठारह शव निकाले जा चुके हैं बमुश्किल
ये पांच तो मानो पाताल का पता ढूंढने निकल पड़े हैं
पोकलेन और जेसीबी और न जाने कौन-कौन सी विकटबल दांतेदार मशीनें
हतगर्व माथ झुकाए हाँफती खड़ी हैं
आपदाओं से निपटने को गठित बल-दल के सूरमा कुठित हैं
अगोरते परिजनों की लपकती आशाएँ लुंठित हैं
ललमटिया की कलमटिया में लहू के चकते
जैसे कि बो दिए गए हैं बहुत गहरे

अब तो लौट भी चुके हैं शोक-संतप्त मुख-मुद्रा वाले राजनेता
और रोष-तप्त युद्ध-मुद्रा वाले यूनियनबाज नेता भी
मरे हुआँ को और बचे हुआँ को न्याय दिलाने को ठाना गया
एक आमरण अनशन भी - जिसे कि अंततः (और वस्तुतः)
अमरण अनशन ही होना था- एक गिलास शिकंजी के साथ शांत हो चुका है
मुआवजे के अनमने चेक-वितरण की छप चुकी हैं चंद तस्वीरें अखबारों में
और थोड़ा हट कर भोड़ाय-साइट पर उत्खनन फिर से चल पड़ा है
क्योंकि कोयले के बगैर जाने कहाँ-कहाँ की बिजली-आपूर्ति का स्विच
ऑफ होने का अंदेशा था निर्बल थर्मल पॉवर-प्लांटों से
गोया बीत चुकी है आधिकारिक शोकावधि और मामूल बहाल हो गया है
और इधर हवा में टंगी हुई है एक मांग अनसुनी
कि दूर-दराज के दूसरे प्रदेशों से कामगार बटोर लाने की जगह
यहाँ के लोगों को क्यों नहीं रखा जाता काम पर
आखिर हम कहाँ जाएँ, हालांकि जा ही रहे हैं- कहीं और, भारी कदमों
लेकिन उन पांच लोगों से भला कौन जगह बदलना चाहेगा
कि जहाँ अतल अंधेरे में
आस-पास दबे पड़े हैं
लड्डू यादव और ललू खान
और बहुत ऊपर, हवा में
घुली हुई है
धीरे-धीरे चुपाई घंटी की
धीरे-धीरे मिटती ध्वनि-लहर-सी
एक पुकार :
दुनिया के मजदूरों एक होओ!

मोमेंटम झारखंड, 2017

लुटेरों के लिए लाल कालीन बिछाने का चलन नया है

ये लुटेरे हैं भी तो अलग पिछले लुटेरों से
इनके हाथों में कहाँ हैं लपलपाती तलवारें, नुकीले बल्लभ, भरी हुई बंदूकें
इनके हाथों में तो अभी-अभी पकड़ाए पुष्प-गुच्छ हैं जिन्हें उन्होंने
थाम रखा है कितनी शाइस्तगी से कितनी नफासत से
सख्त चेहरे पर करखत आंखें जिनमें उतरा हुआ हो लहू- नहीं, ऐसे नहीं
कितने कोमल, कितने निर्मल- आंखों को आराम पहुँचाने वाली छवि छबीली
यहाँ कहाँ घोड़े और बारूद और पसीने की वह मिली जुली तीखी
जी मिचलाने वाली गंध उठती हुई जिस्म से
यहाँ तो न जाने किस लवेंडर या कि परफ्यूम की भीनी-भीनी गंध है
अनायास नथुनों को नहलाने-फुलाने वाली
नहीं, ये वे लुटेरे नहीं जो अपने पीछे छोड़ जाते थे लहू-रंगी धरती
ये वे हैं जिनके कदमों के आगे-आगे लाल कालीन खुलता जाता है
लहू-रंगी धरती की तरह

राजकीय अतिथि हैं ये

शाही मेहमान

दूर-दूर से आए, देश-देशांतर से

इनके स्वागत में इस खनिजोर्वर राज्य की राजधानी को

रगड़-पोंछ कर शीशमहल-सा चमका दिया गया है

जिन सड़कों से गुजरना है एयरपोर्ट से आता उनका कार-कारवाँ

उनके मुहानों पर

उठाए गए हैं सजीले तोरण-द्वार

यह मोमेंटम झारखंड है

रांची में लगा हुआ निवेशकों का सौ करोड़ी मेला सरकारी

पूँजीधर पधारे हैं देश-विदेश से

विजेताओं की सम्मोहक निर्मम मुस्कान लिए चेहरे पर

और लिए चमचमाते ब्रीफकेसों में बंद अनुबंधों के मसौदे

जिनके बदनीयत शब्दों के बल

झारखंड की क्षितिज उलांघती उपजाऊ-खनिजाऊ भूमि

खरीदी जाएगी कौड़ियों के मोल कि ठगी जाएगी जनता फिर-फिर

विकास के बदले लोगों को मिलेगा विस्थापन

छिनेगा जल जंगल जमीन का अपनापन

बस, बदहाली को ढंकेगा खुशहाली का विज्ञापन

उनका दावा है

कि इस ऐतिहासिक आयोजन का

यह जो अनूठा शुभंकर है - संपंख गजराज
 उसके सुहाने पंख
 हाथी के जिस्म से
 बबूल के गोंद या लाह से नहीं
 फेवीकोल से चिपकाए गए हैं
 उड़ चाहे कभी न पाए यह हाथी
 ये पंख तो हरगिज न झड़ेंगे!
 (और झारखंड के सिकुड़ते वनों में समा न पाते
 हाथियों के बचे हुए झुंड
 अपने ही अस्तित्व से लड़ेंगे
 यहाँ के लोगों की ही तरह
 निरुपाय)

दो से शुरु करें

लौटती बार, पड़ाव पर
 मिलने को आए
 उरेंदु जी हैं
 देवघर के युवा कवि उछाह-भरे
 आइए बंधु
 छाती से लगा लूँ

उर में भर लूँ शीतलता
 तृप्त कर लूँ तल तक स्वयं को
 दुर्लभ अवसर क्यों छोड़ूँ
 उरेंदु से गले मिलने का
 गले-गले गलने मिलने का
 जानता हुआ भी कि उर में इंदु सबके है
 बिंदु-भर इंदु सबके है

सहास कहा देवघर के युवा कवि उरेंदु ने :
 इधर से गांव को जाते हुए दो दिन में लौटने
 को कहा था
 और बिता आए इ त ने दिऽऽन

और क्या कहता, मैंने बस यही कहा :
 हाँ, दो दिन 'दो शब्द' की धारा में थे
 दो ही शब्दों तक महदूद नहीं जो
 अनेकानेक शब्दों तक फैले- आशय के
 जलाशय तक
 क्योंकि 'दो' हिंदी में बहुवचन का आरंभ है
 आइये, हम दो यहीं से शुरू करें
 असंख्य तक जाता अपना बहुवचन!

बी-3/12, अन्नपूर्णा नगर, विद्यापीठ मार्ग, वाराणसी- 221002 मो. 9415389996

वागर्थ के लेखकों से अनुरोध

'वागर्थ' को नए रूप में साहित्यिकता, जागरूकता और पठनीयता का संगम होना है। सभी से अनुरोध है कि प्रकाशन के लिए भेजें- ■ कहानी, कविताएँ, समकालीन तेवर के हास्य-व्यंग्य, प्रसिद्ध कहानियों के नाट्य रूपांतरण ■ यात्रा संस्मरण ■ विचार-विमर्शपूर्ण आलेख और टिप्पणियां ■ अन्य भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ समकालीन कहानियों और कविताओं का अनुवाद ■ आत्मकथा या संस्मरण ■ विदेशी लेखकों की श्रेष्ठ कहानी का अनुवाद या किसी चिंतक से सामयिक मुद्दों पर हाल के साक्षात्कार का अनुवाद ■ विभिन्न क्षेत्रों में सेवा में लगे महत्वपूर्ण गैर-सरकारी संगठनों के प्रमुखों से साक्षात्कार ■ हिंदी के श्रेष्ठ साहित्यिक पाठ या महान लेखकों का आज के संदर्भ में मूल्यांकन

- (1) सूचनार्थ निवेदन है कि 'वागर्थ' में प्रकाशित हर रचना के लिए मानदेय की व्यवस्था है।
- (2) अपनी सामग्री ई-मेल से भेजें- vagarth.hindi@gmail.com साथ ही डाक से उसकी प्रति। संपादकीय संपर्क : 07449503734

निरंतर बेहतर लेखन - निरंतर बेहतर वागर्थ!



निर्मला तोदी

एक कविता संग्रह 'अच्छा लगता है' प्रकाशित।
संप्रति : स्वतंत्र लेखन।

दिल खोल कर हँसो

हँसो
दिल खोल कर हँसो
हँसना स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है
हँसने के क्लब में जाओ
बेरोक टोक हँसो
सुबह की सैर के बाद
एक गोल घेरा बना कर
मिल कर जोर-जोर से हो-हो करके हँसो
जबर्दस्त हँसो
निडर हँसो
निरर्थक सचेष्ट हँसो
रियाजी हँसो
नकली ही सही, पर हँसो
जान लो दिन भर
देखने को मिलेगी इनसे भी ज्यादा
फीकी निरर्थक सस्ती
नकली से भी नकली हँसी।

बचपन

सुंदर फोटो देखना अच्छा लगता है
अपने बच्चे की फोटो बहुत सुंदर लगती है
बच्चे के बच्चे की और भी सुंदर और प्यारी
सब फोटुओं से ज्यादा अच्छी लगती है
अपने बचपन की फोटो
अपनी माँ की गोद में अपने को देखना
अपने छोटे-छोटे भाई-बहन के साथ

अपने को छोटा-सा देखना

फोटो के साथ
अंदर गुमसुम बैठा बचपन
जाग जाता है
उसे देखना
उससे बात करना
उसे दुलारना
उसके साथ खेलना
सबसे ज्यादा अच्छा लगता है
अपने बचपन के पास जाना
सबसे ज्यादा अच्छा लगता है।

त्रिगुणात्मक शक्ति

मैंने देखा
वो वीणा बजा रही है
अपने सिंह को जंगलों के लिए छोड़
नरम हरी दूब पर
चली आ रही है
बैंगनी पाड़ वाली हरी साड़ी पहने
आलता लगे पैरों के खन-खन नूपुर बज रहे हैं
सिंदूर की बड़ी-सी टिक्की
बाजूबंद चमक रहे हैं
गले के हार में मुंड लटक रहे हैं
मैंने भी अपने सभी मुंड माँ को अर्पित किए
देखिए तो सही
फिर भी एक
मेरे धड़ पर टिका है!

6/1/3 क्वींस पार्क, कोलकाता-700019 मो. 9831054444

अक्टूबर 2017

वार्थ

64

जाड़े के दिन

हसरतों की ज़द में हैं जाड़े के दिन
क़दमबोस हम तेरे जाड़े के दिन।
बज रही हैं ब्याह की शहनाइयाँ
जाजिमों-से बिछ रहे जाड़े के दिन।
मंत्र पढ़ रहे हैं सूर्य देवता
धूप पढ़ रहे हैं ये जाड़े के दिन।
रात चाहे जितने भी सितम करे
जिस्म को सहला रहे जाड़े के दिन।
मेघा ने खोल दिए जुल्फ जो
प्रेम में श्यामल भए जाड़े के दिन।
बिखरा किस आँख का काला जादू
मेघ-से काले हुए जाड़े के दिन।
नर्म मीठी आंच में पिघल रहे
दोस्त की आगोश हैं जाड़े के दिन।
मौसम ज्यों चाय की कुछ प्यालियाँ
शक्करो-से घुल रहे जाड़े के दिन।
जाने किस आँख की मीठी चितवन
महुआ के घट बने जाड़े के दिन।
मधुबन से श्याम ने आवाज दी
राधिका-से चल पड़े जाड़े के दिन।
राधा के केश से छिटकीं बूँदें।
कृष्ण-से भीगे हुए जाड़े के दिन।
मोअज़्जिनों ने मस्जिदों में दी अजां
सिजदे में अब झुक रहे जाड़े के दिन।
हाँक रहा साँझ का गड़ेरिया
लौट घर को जा रहे जाड़े के दिन।



नीलिमा सिन्हा

पुस्तकें : कुल्हाड़ी, सेवा
में जिससे यह संबंधित
हो, अर्थात (कहानी
संग्रह), अश्वत्थ खड़ा है
आज भी, साधना शिखर,
काव्याणु, शहर से गुजरते
हुए (काव्य-संग्रह)।
प्राचार्य के पद पर
कार्यरत।

शिव जगदंबा भवन, नगमतिया रोड, गया-823001 (बिहार) मो.9431465288

डोगरी कविताएँ



पद्मा सचदेव

प्रसिद्ध डोगरी एवं हिंदी की लेखिका। प्रमुख पुस्तकें : मेरी कविता मेरे गीत, अमराई, जम्मू जो कभी शहर था।

चलो चलो जल्दी करो

टहनियाँ वटवृक्ष की
जहाँ झूल रही हैं
धरती खोद कर, कुआँ निकाल कर,
विश्राम करते मजदूरों को राहत पहुंचा रही हैं
मैं वहीं जाकर बैटूंगी
मैं वहाँ जाऊंगी
जहाँ सफेद मिट्टी खोद कर
टोकरी में भर कर, कोई स्त्री
टोकरी उठवाने के लिए किसी राहगीर की
प्रतीक्षा कर रही है।
वहाँ भी जाऊंगी मैं
जहाँ मिट्टी ढोते-ढोते कोई मजदूर औरत
छांह में सोते हुए अपने
बच्चे को देखने जाती है
जग गए बच्चे को मैं लोरी सुनाऊंगी
हाँ मैंने वहाँ भी जाना है
जहाँ कोई बीमार सामने पड़े घड़े
का पानी पीना चाहता है
रात को देखता है सपने 'चिनाब' के
उसे मैंने पानी पिलाना है
चलो-चलो, जल्दी करो
कहीं देर न हो जाए।

परमात्मा

आहट हुई है कहीं
जैसे कोई फिसल कर
जिंदगी के मोड़ों में ही गिर गया
जा के रुका है जहाँ
निकल आया चनाब वहाँ
दो लहरों के बीच

एक-एक लहर जैसे आसमान छू रही
 धरती तो कहीं नहीं
 राह दूर जा रही
 दरिया बहुत तेज है
 सांस रोके भागता
 जिंदगी की गांठ तो खुलते ही बिखर गई
 यादें अलग हो गईं
 उड़ गई आकाश में
 देह पर उगे हुए सारे ही घाव
 घुस गए हैं देह में
 बहता-बहता लहू जैसे भर गई है आत्मा
 आओ ढूँढे कहाँ है परमात्मा!

माँ

बुलाने को तो कितने ही नाम हैं
 जिसे बुलाओ बोलता भी है
 पर एक नाम ऐसा भी है
 जब बुलाओ तो
 सब स्त्रियों के कान खड़े हो जाते हैं
 सबको लगता है
 कहीं ये आवाज मेरे लिए तो नहीं है
 बुलाया जाने वाला ये नाम है 'माँ'
 ओ लड़के
 हे कुड़िये
 हे बच्चो, कहाँ हो
 माँ-माँ पुकारता जब कोई भी बच्चा
 गली में से गुजरता है
 सड़क पार करता है
 या पहाड़ चढ़ता है
 या पहाड़ उतर कर
 आंगन में खड़ा होता है
 तब माँ गुलाब की तरह खिल कर
 आंगन को भर देती है
 गली में से गुजरते
 पतंगें उड़ाते
 गेंद उछालते

सब चौकन्ने होकर माँ-माँ कहते हैं
 माँ झांकती है, हर माँ सोचती है
 कहीं ये मेरा तो नहीं
 'माँ' सब एक ही तरह बोलते हैं
 शहद में भर कर
 चाव से खिल कर
 जरा सा डर कर
 बछड़ा भी रंभाता है बाँस बाँस
 कभी-कभी गाय रस्सी तुड़ा लेती है
 मालिक से जरा भी नहीं डरती
 कोई भी क्लेश हो
 कोई भी उग्र हो
 कोई भी दुविधा हो
 मुंह से निकलता है
 हाय माँस माँस माँस
 हाय बाप कोई नहीं कहता।

मंडी

एक घूंट लहू का फिर से पी लिया मैंने
 पहले न चुके उधार और ले लिया मैंने
 आँखें चौंधिया गईं, दोहरी हुई कमर भी
 जिंदगी सुई-धागे से फिर से तुम सियो मुझे
 मोह से निकली थी फिर मोह ही अपना लिया
 भरा न था घड़ा शायद, यही अंदाजा मेरा
 मोह की बेटा घुमंतू जिद में है अड़ी हुई
 ऊँ-ऊँ करती पीछे-पीछे आती जा रही
 मोह से निकली थी अब दलदल में फँसी हूँ
 लालसा निकली हृदय में कांटों-सी धँसी हूँ
 उधड़े हुए कुछ कपड़े फिर से सीने होंगे अब
 लालच के कई घूंट फिर से पीने होंगे अब
 रास्ता ही रास्ता मंजिल का कुछ पता नहीं
 राह चलने वालों को क्या डाकुओं का डर नहीं
 जो इकट्ठा किया था सभी बांट आई हूँ
 फिर भी चिपका रहा मोह, तभी तो मंडी आई हूँ।
 (स्वयं लेखिका द्वारा अनूदित)

बी-242 चित्तरंजन पार्क, नई दिल्ली- 110019, मो. 9811147654



केहरी सिंह मधुकर

(1930-2000)

प्रमुख डोगरी कवि



यश शर्मा

(जन्म : 1929) साहित्य

अकादमी से पुरस्कृत कवि

में बनाम में

मेरी सभ्यता
 मेरी तहजीब
 मेरी जात-पात अपनी
 मेरा शरीर
 मेरी नाड़ियों में लाल लहू
 दौलत अपनी
 पागलपन अपना!

मेरे पैरों में बेड़ी
 मेरे हाथों में जंजीर
 मेरे होने के लिए है सीप
 जिसमें मोती नहीं
 नरक भोग रहा कीड़ा है
 कभी चांदी की कोख में
 कभी सोने के गर्भ में
 कभी आग की रंगत लिए
 तांबे की खोहों में
 कभी गौओं की गिनती से
 कभी गाँवों देहातों से
 कभी टांकी मुद्राओं से
 बना है हुलिया अपना!
 इन तानों और बानों से
 मेरी औकात तौली गई
 मेरे रुतबे की बोली लगी
 मैं नहीं मनुष्य
 इस कारण
 मनुपुत्रों से कोई नाता नहीं
 मैं कैदी हूँ
 नस्ल का कौम का
 भूगोल की हदबंदी का
 यह मेरा कैदखाना है!

मेरे साथी

कलाकार है जाति का गौरव निशान
 मगर दुनिया का महान इन्सान है
 चाहे वह लेखक कोई या किसान
 मेरे साथी, इन पर मुझे मान
 शाल-दुशालों पर जो काढ़ते हैं फूल
 कारखानों में हैं बुनते जो कपड़े
 गाते जीवन का गीत सुहाना
 मेरे साथियों के गीत पूरी दुनिया में
 लाखों-करोड़ों लोग गाते हैं
 कामकाज में लगीं गोरियों के होंठों पर भी
 फिर फिर वही गीत आते-जाते हैं

जिस गीत को महजूर ने कश्मीर में गाया
 वही गीत जम्मू में रामधन गा रहा है
 वही गीत गूंजता चीन की घाटी में
 जिसे कभी तुर्की में नाजिम सुनाता है
 चरखा चलाते मुन्ने की लोरी गुनगुनाते
 माँ सुख-शांति के वही गीत गाती है
 'जंग बुरी बहुत, मार देती है इन्सानियत को
 गला घोट कर', यह गाती बच्चे को लगाती सीने से
 इन्हीं साथियों को संवारना है धरती को
 अमन की छांव में
 इक ताजमहल और बनाना है
 बंजर थार में फसलें और फल-बूटे
 रोती हुई आंखों को फिर से हँसना सिखाना है
 इन चेहरों पर थकान का नाम नहीं
 दृढ़ निश्चय चमकता है आंखों में
 समता के गीत गाने वाले मेरे साथियों को
 जीने की आस है न मरने का भय है!

अनुवाद : अरुणा शर्मा



स्मृति

10 अक्टूबर



अप्रकाशित दस्तावेज

राष्ट्रीय संस्कृति : प्रगतिशील आंदोलन

(दिल्ली में 6,7 और 8 मार्च 1953 को आयोजित छठे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ सम्मेलन के लिए अंग्रेजी में तैयार किए गए ड्राफ्ट रिपोर्ट का हिंदी अनुवाद)

रामविलास शर्मा

महामंत्री

अनुवाद और प्रस्तुति : विजय मोहन शर्मा

रामविलास शर्मा 1941-42 के आसपास संयुक्त प्रांत के प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री बन गए थे। आगे चल कर वह अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के महामंत्री बने। 1953 में उन्होंने यह पद छोड़ दिया। उस समय क्या हालात थे, पार्टी की सांस्कृतिक नीति क्या थी, कुछ भी नहीं, इसके बारे में रामविलास जी ने अपने साक्षात्कारों में खुलासा किया है। उन्होंने एक ड्राफ्ट रिपोर्ट बनाई थी, जो संभवतः अधिवेशन में पढ़ी नहीं जा सकी; क्योंकि उससे पहले ही पार्टी ने तय कर लिया कि लेखक संगठन की कोई आवश्यकता नहीं है। रामविलास जी ने पहले मांग की थी कि पार्टी सांस्कृतिक प्रश्नों पर अपनी नीति स्पष्ट करे या लेखकों को नीति-निर्धारण की आजादी दे। इस संदर्भ में उनके अंग्रेजी में लिखे ड्राफ्ट रिपोर्ट का महत्व बढ़ जाता है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया था।

सत्रह वर्ष हुए जब अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की पहली बैठक (1936) प्रेमचंद की अध्यक्षता में लखनऊ में हुई थी। लोगों की जिंदगी में सत्रह वर्ष बहुत लंबा अरसा नहीं होता; खास तौर से ऐसे लोगों की जिंदगी में, जिसमें एक साहित्यिक आंदोलन रूप ले रहा हो। फिर भी इस थोड़े समय में प्रगतिशील लेखक संघ ने भारतीय लोगों के सांस्कृतिक जीवन में अपने लिए एक जगह बना ली है। इसका प्रसार और प्रचार दूसरे सांस्कृतिक आंदोलनों के मुकाबले ज्यादा तेजी से हुआ है। आज अपने देश में कोई भाषा नहीं है जिसके साहित्य में प्रगतिशील विचार या रुझान दिखाई नहीं देता हो। ऐसी कई भाषाएँ हैं, जिनमें राष्ट्रीय स्तर पर लोगों का रुझान प्रगतिशील साहित्य की ओर है। किसी भी लेखक के लिए, जो थोड़ा-बहुत भी अपने लिखे के लिए जाना जाता हो, यह संभव नहीं है कि वह प्रगतिशील लेखन की लोकप्रियता और उसके प्रसार की ओर ध्यान नहीं दे। ऐसे लोगों की संख्या, जिन्होंने आशा

और प्रेम के साथ प्रगतिशील लेखन के आंदोलन का साथ दिया है, बहुत बढ़ गई है; खास तौर से प्रेमचंद के समय को देखते हुए।

इसी तरह भारत में राष्ट्रीय संस्कृति के प्रसार का विरोध करने वालों की संख्या भी बढ़ी है। शायद ही कोई दिन ऐसा होता होगा जब प्रगतिशील साहित्य के विरोध में हमारे इजारेदारों और बड़े वित्तीय संस्थानों द्वारा नियंत्रित प्रकाशन जगत में पटाखे न फोड़े जाते हों। इसी से हमारे आंदोलन की ताकत का अंदाजा होता है। इसके आलोचकों को भी मानना पड़ता है कि इसके कारण भारतीय साहित्य में बदलाव आया है और अब अधिक से अधिक नए लेखक कला और साहित्य में प्रगतिशीलता के सिद्धांत की ओर आकर्षित होते दिखाई देते हैं।

भारतीय प्रगतिशील लेखकों का आंदोलन हमारी जनता के राष्ट्रीय सांस्कृतिक जीवन में एक जीवंत बल का प्रतिनिधित्व करता है। यह ऐसा बल है, जो हमारी संस्कृति को संगठित करता और उसे आगे ले जाता है। इसे अपने जन्म से ही न केवल कटु आलोचना का सामना करना पड़ा है; बल्कि पहले अंगरेजी राज और बाद में कांग्रेसी सरकार के दमन का सामना करना पड़ा है, फिर भी यह सारे विरोध के बावजूद आगे बढ़ता गया है। इसके जीवंत होने का राज यह है कि यह प्रगतिशील लेखक अपनी जनता के निकट संपर्क में है। जनता के साथ उनका संबंध दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता जाता है और इसी अनुपात में हमारे आंदोलन का बल और लोकप्रियता बढ़ती जाती है।

पिछले दिनों भारतीय लोगों की मनोवैज्ञानिकता में बड़ा बदलाव आया है। उन्होंने देखा है, कैसे सोवियत संघ के लोगों ने— एक ऐसा समाज, जिसमें शोषण करने वाले नहीं हैं— हिटलर की, जर्मनी की ताकतवर फौजों को परास्त किया और यूरोप और एशिया के लोगों को मुक्त जीवन दान दिया, जिसमें फिरकापरस्तों वाली दास कुप्रथा नहीं है। उन्होंने देखा है कैसे उनके पुराने पड़ोसी पचास करोड़ चीनी लोगों ने साम्राज्यवादी और

सामंतवादी सरकारों को उखाड़ फेंका और अपने भाग्य के विधाता स्वयं बन बैठे। वह यह भी देखता है कैसे कोरिया के बहादुर लोग अंग्रेजी-अमरीकी जैसे ताकतवर दुश्मनों से लगातार लोहा लेते रहे हैं। वह यह भी देखता है कैसे एशिया के लोग अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और आजादी के दुश्मनों को लगातार एक के बाद एक शिकस्त देते रहे हैं; ऐसे दुश्मन, जो संपूर्ण मानवता और शांति के दुश्मन हैं। इसलिए भारतीय लोगों की पुराने अकाल और निरक्षरता भरे जीवन को छोड़ने की इच्छा और भी बलवती हुई है; संगठित होकर एक शांतिपूर्ण जीवन के लिए युद्ध करने की उनकी इच्छा और भी बलवती और पहले से उच्चतर हुई है। प्रगतिशील लेखक, जो अपनी जनता के भाग्य से जुड़े हुए हैं, वह भी उनके साथ-साथ सुनहरे भविष्य की ओर बढ़ रहे हैं।

हमारा मुख्य काम

प्रगतिशील लेखकों का मुख्य काम साहित्यिक कर्म द्वारा अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करना और उसे समृद्ध करना है।

हमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा करनी है, किंतु किसके विरुद्ध? हमें सबसे पहले अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भ्रष्ट और पाखंडी संस्कृति के प्रभाव से इसे बचाना है।

इस संस्कृति का चरित्र कैसा है?

अंग्रेजी साम्राज्यवादी संस्कृति झूठ, धोखेधड़ी और बदमाशी से भरी है। यह साम्राज्यवादियों के हितों की रक्षा करती है, लोगों से अंग्रेजी कॉमनवेल्थ के देशों में आपसी मित्रता और भाईचारे की बात करके उन्हें धोखा देती है, साथ ही साथ यह चीन और रूस के खिलाफ लोगों को भड़काती है, कोरिया और मलेशिया के लोगों के राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को एकछत्र शासन से लोकतंत्र को बचाने के नाम पर बरगलाती है। यह एशिया के साम्राज्यवादी दमनकर्ताओं के हितों की रक्षा करती है। यह युद्ध का व्यापार करने वालों की संस्कृति है।

अंग्रेज साम्राज्यवादियों की यह संस्कृति हमारे राष्ट्रीय हितों के विरोध में है। अंग्रेजी अत्याचारों के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलनों की पूरी कहानियों को दबा कर, इसने हमारे पूर्व को झुठला दिया है, इसने सांस्कृतिक इतिहास को टेढ़ा-मेढ़ा करके महान भारतीय जनता के स्वाभिमान को नष्ट करने की कोशिश की है और वे एक हद तक उनके मस्तिष्क में सांप्रदायिकता और वंशवाद का जहर भर कर उन्हें विभाजित करने में सफल भी हुए हैं। इस संस्कृति को भारतीय रूढ़िवादी सनातनी संस्कृति में हमेशा अपना साथ दिखाई देता है। जो भी जातिवादी, भाग्यवादी और पुरानपंथी हैं, वे ही साम्राज्यवाद के साथ समझौता और सहयोग करने की बात करते हैं।

हमें अपने साहित्यिक कर्म में इस पतनशील विदेशी संस्कृति का विरोध करना चाहिए।

अपनी राष्ट्रीय संस्कृति पर किस तरह से दबाव बनाया जा सकता है ?

हमारी शिक्षा की संपूर्ण पद्धति वही है, जो अंग्रेजों ने हमारे लिए बनाई थी। अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकें हमारे नौजवानों को सिखाती हैं- क्या सोचना चाहिए और कैसे। मिशनरियों, मिशनरी संस्थानों द्वारा, पत्र-पत्रिकाओं से, पुस्तकालयों से, फिल्मों से, रेडियो से चुने हुए लोगों को इंग्लैंड में प्रशिक्षण दिला कर और दूसरे ऐसे ही साधनों द्वारा अंग्रेजी साम्राज्यवादी संस्कृति हमारी राष्ट्रीय संस्कृति का गला दबाए जा रही है।

अंग्रेजी भाषा देश में अपना प्रभुत्व राजभाषा की तरह बनाए हुए है। देश में ऐसे तत्व भी हैं, जो यह मानते हैं कि सारी प्रगति अंग्रेजी भाषा के कारण हुई है और शिक्षा का स्तर इसलिए गिर रहा है, क्योंकि अंग्रेजी पढ़ने-पढ़ाने के स्तर में गिरावट आई है। जहाँ तक साहित्य का प्रश्न है, यह सर्व-विदित है कि ब्रिटेन और अमरीका में लोकप्रिय कलात्मक साहित्य के स्तर में गिरावट आई है। अपराधों पर आधारित उपन्यास, उदास कर देने वाले, अश्लील और नशीले साहित्य की भरमार है और ऐसा साहित्य भारत में सांस्कृतिक मापदंड

बनेगा! सब जगह लोग, हर स्तर पर अपनी भाषा में पढ़ने-लिखने की सुविधा मांग रहे हैं। उदाहरण के लिए पंजाब और पेप्सू छात्र संगठन ने अपने चौथे सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया कि विश्वविद्यालय स्तर तक की सारी पढ़ाई-लिखाई अंग्रेजी की जगह प्रांतीय भाषाओं में कराई जाए।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की वृद्धि को रोकने का अंग्रेजों द्वारा अपनाया गया एक तरीका यह है कि एक ही भाषा बोलने वाले लोगों को अलग-अलग प्रांतों या राज्यों में बांट दो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक बार भाषाओं के आधार पर राज्य बनाने की मांग का समर्थन किया था। इस आधार पर राज्यों को पुनर्गठित करने से एक ही भाषा और संस्कृति के लोग निकट आएंगे। इससे उनकी सांस्कृतिक प्रगति में सुविधा होगी। भाषा के आधार पर राज्य बनाने की मांग कई तरफ से और भांति-भांति के लोगों की ओर से उठ रही है। यह मांग भारत की एकता को मजबूत करने के लिए है, उसे तोड़ने के लिए नहीं है। इसलिए इसे प्रगतिशील लेखकों का सकर्मक सहयोग प्राप्त है।

पश्चिमी संस्कृति में हमारे जीवन पर दबाव के जो कुछ विरुद्ध है और जो कुछ हमारी राष्ट्रीय संस्कृति में स्वस्थ है और अच्छा है, हम उन सबको सुरक्षित रखने और आगे बढ़ाने के लिए कटिबद्ध हैं। इसके अतिरिक्त हम युद्ध चाहने वालों की अमरीकी संस्कृति के दबाव से अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को बचाना चाहते हैं। अमरीकी संस्कृति खून की प्यासी, पागलपन और मनुष्यता की विरोधी संस्कृति है। एशिया के लोग एशिया के लोगों से लड़ें यह उनका नारा है। हिटलर की तरह, यह अपने आप को बोल्शेविज्म के दुष्प्रभाव से स्वतंत्रता और प्रजातंत्र को बचाने वाली संस्कृति के रूप में दिखाई देने की कोशिश करती है। यह संस्कृति कोरिया में बच्चों और महिलाओं की हत्या करने के लिए एक मुखौटा है, यूरोप और एशिया में देशों को गुलाम बनाने की प्रथा चलाने वाली है, अपने देश में शांति चाहने वालों का कठोरतापूर्वक दमन करने वाली है, और नस्ल के आधार पर

नीग्रो लोगों पर अत्याचार करने वाली है। यह वह संस्कृति है, जो पॉल रोबसन और हावर्ड फास्ट की आवाज को दबा देने का प्रयत्न करती है। यह संस्कृति हमारे देश में फिल्मों के माध्यम से घुसपैठ कर रही है। अमरीकी प्रचार करने वाली पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ, सस्ते दामों पर उपलब्ध कराई गई पुस्तकें, खरीदे हुए लेखक, शिक्षा के नाम पर अमेरिका-भ्रमण, अमरीका से आने वाले छात्र और अध्यापक आदि- ये सभी इस प्रचार-प्रसार अभियान के अंग हैं।

अमरीकी साम्राज्यवादियों की संस्कृति, बेशर्मी और नंगई से युद्ध का प्रचार करना है। हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को इस छूट के रोग से बचाना चाहते हैं।

हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को भारतीय रूढ़िवादी शक्तियों से भी बचाना चाहते हैं। इन शक्तियों ने विदेशी गुलामी के विरुद्ध हमारी वीर जनता के राष्ट्रीय प्रतिरोध को हमेशा अवरुद्ध और कमजोर किया है। यह पुरोहितों और जमींदारों की मरणासन्न संस्कृति, जिसे सैकड़ों सालों के इतिहास ने दुत्कारा है, जनता के अशिक्षित होने के कारण जीवित है, किंतु यह पुनर्जीवित होना चाहती है ताकि शिक्षा का प्रसार और विज्ञान का प्रकाश फैलने से रोका जा सके। यह जनता को जाति और वर्ण के आधार पर बांटना चाहती है। यह भाग्य और ईश्वरीय इच्छाओं की दुहाई देकर उन्हें पिछड़ा हुआ ही रखना चाहती है; ताकि जमींदारों और राजकुमारों को, धर्म के ठेकेदार होने के नाते, मिले विशेष अधिकार सुरक्षित रखे जा सकें। हम इस प्रतिक्रियावादी संस्कृति के चंगुल से लोकप्रिय प्रजातांत्रिक संस्कृति को बचाना चाहते हैं और उसका विस्तार करना चाहते हैं।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की क्या विशेषताएँ हैं ?

यह मानवतावाद की संस्कृति है, देशों के बीच शांति और प्यार की संस्कृति है, दमन और

आक्रामक शोषण के खिलाफ प्रतिरोध की संस्कृति है। यह एक लोकप्रिय और प्रजातांत्रिक संस्कृति है, जो जनता के जीवन से जुड़ी है और उनके हितों के लिए काम करती है। हम ऐसी संस्कृति की रक्षा करते हैं और इसे समृद्ध करते हैं।

हम अपनी संस्कृति की मानवतावादी और प्रजातांत्रिक परंपराओं को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। या तो हम इन परंपराओं को भूल गए हैं अथवा इन्हें साम्राज्यवादियों ने दबा दिया है। हम जनता की याददाश्त में धुंधले हो गए अपने ऐतिहासिक नायकों की छवियों को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, अपने संत कवियों के निःस्वार्थ कार्य करने की मानसिकता को, कबीर जैसे कवियों के व्यंग्य बाण को, जिन्होंने धर्म के नाम पर पुरोहितों द्वारा किए जा रहे अत्याचार का खुलासा किया, भारती और रवींद्रनाथ जैसे कवियों का ज्वलंत देशप्रेम फिर से जनता को याद दिलाना चाहते हैं।

जो भी जनता के साथ आगे बढ़ रहा है और स्वस्थ है, उसकी नेक नीयती, उसका नायकत्व, उसकी आशाएँ और अपने बच्चों के सुनहरे भविष्य के लिए उसका त्याग, इन सबसे हम इस संस्कृति को समृद्ध करेंगे।

प्रगतिशील साहित्य के विकास के लिए हम पुराने गुरुओं से तो सीखते ही हैं, धरती की समृद्ध लोक संस्कृति से भी सीखते हैं। प्रगतिशील लेखकों और कलाकारों के लिए लोक संस्कृति एक ऐसा खजाना है, जो कभी खत्म नहीं होगा। हमारे साहित्य में यथार्थवादी रुझान बढ़ रहा है। हमारे रचनाकार अब अधिक से अधिक यथार्थ जीवन से लिए गए चरित्रों का चित्रण कर रहे हैं और इसीलिए प्रगतिशील साहित्य में अब लोगों के जीवन में आ रहे परिवर्तन का प्रतिबिंब दिखाई देता है।

अपनी संस्कृति की राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक परंपराओं के अनुरूप साहित्य का विकास करना, इसे लोगों के जीवन से करीब से जोड़ना और एक लोकप्रिय तथा सुंदर साहित्य का रूप देना- यही हमारा मुख्य कार्य है।

शांति की रक्षा, लोकतांत्रिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए

अपनी संस्कृति की राष्ट्रीय और लोकतांत्रिक परंपराओं को पुनर्जीवित किया जा सकता है, उनकी रक्षा की जा सकती है और उन्हें समृद्ध किया जा सकता है, यदि हमारा साहित्य अपनी शांति और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने, राष्ट्रीय स्वाधीनता और देशवासियों की खुशहाली के लिए लड़ाई लड़ने को कटिबद्ध हो।

अमरीकी सरकार कोशिश कर रही है कि युद्ध के क्षेत्र का एशिया में प्रसार हो। कोरिया, मलाया और वियतनाम में सैकड़ों लोगों का जीवन खत्म हो गया है। कोरिया में युद्ध के ऐसे तरीकों का इस्तेमाल किया गया है, जिनकी भर्त्सना सारी मानवता ने की है। बैक्टीरिया वाले बमों के उपयोग से उनका मन नहीं भरा है और वे एशिया के लोगों के खिलाफ एटम बम इस्तेमाल करने की धमकी देते हैं। वे जापान को फिर से सशस्त्र कर रहे हैं, मध्य-पूर्व में सैनिक समझौते कर रहे हैं, भारतीय सरकार पर तथाकथित 'तकनीकी सहायता' के नाम पर दबाव डाल रहे हैं। भारत में युद्ध के प्रचार को बढ़ावा दे रहे हैं। यह हमारा कर्तव्य है कि हम इनके युद्ध-प्रचार को बे-नकाब करने और पांच बड़ी ताकतों के बीच शांति समझौता करवाने की लड़ाई में पूरी ताकत से भाग लें, ताकि कोरिया में तुरंत शांति स्थापित हो सके और एशिया में हम अपने बच्चों के भविष्य को इन एटम-बम-प्रेमियों से बचा सकें।

एक मुख्य स्वर जो भारत में अंग्रेज-अमरीकी युद्ध प्रचार के संबंध में सुनने को मिलता है, वह है कि सोवियत रूस में कोई स्वतंत्रता नहीं है। करोड़ों डॉलर खर्च किए जा रहे हैं, भारतीय जनता के मानस में यह बैठाने के लिए कि सही मायने में जनतंत्र केवल अमरीका में है और सोवियत रूस में तो लोगों को गुलाम बना कर बेगार करवाया जाता है। हमारे महान कवि रवींद्रनाथ टैगोर ने सोवियत रूस की यात्रा की है। उन्होंने वहाँ मानव

संस्कृति में हुई अभूतपूर्व प्रगति के बारे में हमें बताया है।

हाल में कवि वल्लतोल ने रूस की यात्रा की है। वे कहते हैं, 'जैसा कुछ लोग यहाँ प्रचार करते हैं, ये कहना गलत है कि रूसी लोग गुलाम हैं। हम वहाँ कई घरों में गए, छोटे-छोटे प्यारे-से साफ-सुथरे घर और वहाँ बिजली थी। लगभग सभी घरों में रेडियो सेट थे। उनके परिवार सुखी थे। हर आदमी को तनख्वाह के साथ छुट्टी मिलती है। एक लेखक को लगभग 30 रूबल प्रति दिन मिलते हैं (एक रूबल 12 रुपयों के बराबर है)। इस तरह वहाँ पैसे की कोई कमी नहीं है। चीजें बहुत सस्ती हैं। वे जैसे चाहें खुशी से रह सकते हैं। वे बचत भी कर सकते हैं और अपनी बचत अपने बच्चों को दे सकते हैं। अगर यही गुलामी है, तो यह मुझे खुशी से मंजूर है। जैसी स्वतंत्रता हमारे यहाँ पर है, वह मुझे नहीं चाहिए।'

साम्राज्यवादी देश रूस और चीन-विरोधी प्रचार अभियान भारत में इसलिए करते हैं ताकि वे युद्ध के लिए समुचित मानसिकता बना पाएँ और अपनी लड़ाइयों में इन लोगों को तोप के गोलों की तरह इस्तेमाल कर सकें। प्रगतिशील लेखक इनके झूठ को बेनकाब करते हैं और आगाह करते हैं कि यह शीत युद्ध आने वाले गर्म युद्ध की भूमिका मात्र है। भारतीय शांति डेलिगेशन, जिसमें तमाम राजनीतिक पार्टियों, लेखकों और नेताओं के प्रतिनिधि थे, ने कहा है, 'सोवियत संघ के लोगों की दिली इच्छा है कि वे भारत के साथ निकटतम, मैत्रीपूर्ण संबंध बनाएँ। वे व्यापार बढ़ाना चाहते हैं और सांस्कृतिक कर्मियों का आदान-प्रदान करना चाहते हैं।'

साम्राज्यवादी इस तरह के व्यापारिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में बाधा डालना चाहते हैं और एशिया के लोगों को एशिया के ही लोगों के खिलाफ उकसाना चाहते हैं, ताकि वियतनाम और मलाया के स्वतंत्रता-संग्राम को कुचला जा सके, भारत के लोगों को कोरिया और चीन के अपने ही भाइयों के खिलाफ युद्ध में इस्तेमाल किया जा सके। अपने इस नापाक काम में उन्हें

कभी सफलता नहीं मिलेगी। हम उन्हें अपने झूठ से लोगों को धोखा नहीं देने देंगे।

जनता की दयनीय हालत के लिए वास्तविक कारणों को छुपाने के लिए वे पुराने मलबे में से ऐसे सिद्धांत निकाल कर लाते हैं जैसे बढ़ती हुई आबादी। वे अपने विश्व सरकार के नाम पर विश्व में अपना दबदबा बनाए रखने के इरादों को छुपाए रखते हैं। वे यह कह कर कि सारी संस्कृति अंतरराष्ट्रीय है, हमारी संस्कृति के राष्ट्रीय चरित्र पर हमला करते हैं और यह कहते हैं कि इसकी कोई राष्ट्रीय शक्ति या रूप नहीं है। वे वह लोग हैं, जो अपने देश में जनतांत्रिक स्वतंत्रताओं को कुचल रहे हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मसीहा बन कर सामने आते हैं ! ये लोग अपनी हत्या की कहानियों, अश्लील और निराशाजनक साहित्य की मदद से जनता के मस्तिष्क में जहर भरना चाहते हैं। वे सारे लोग, जो अपनी राष्ट्रीय संस्कृति से प्यार करते हैं, उन्हें इसे, इन युद्ध के अपराधियों के कुप्रचार से बचाना चाहिए।

कुछ लेखक, जो अपने को प्रगतिशील भी कहते हैं, इस युद्ध के बढ़ते प्रचार के खिलाफ निष्पक्ष बने रहते हैं। वे प्रगतिशील साहित्य की तो आलोचना करते हैं, लेकिन इन युद्ध चाहने वालों और उनके समर्थन में लिखने वालों के खिलाफ कुछ नहीं कहते। प्रगतिशील साहित्य युद्ध और तानाशाही के खिलाफ निष्पक्ष नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे रवींद्रनाथ टैगोर ने जापानी तानाशाही की निंदा की थी। ठीक उसी तरह जैसे प्रेमचंद उन देशों के साथ थे, जो आपस में भाईचारा और दोस्ती बढ़ाना चाहते थे, इसी तरह प्रगतिशील लेखक उन सब लोगों के साथ है, जो किसी भी हद तक शांति बनाए रखना चाहते हैं।

शांति के लिए संघर्ष हमारी राष्ट्रीय अस्मिता और हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। जरा सोचिए, कोरिया में भारतीय तिरंगे झंडे के साथ-साथ अंग्रेजी हुकूमत का झंडा लहराता हुआ। पीटीआई, रयूटर की कोरिया से दिनांक 30 अगस्त 1952 को आई इस खबर को पढ़ कर

मन अंदर तक खराब हो जाता है, 'जब जनरल केसल्स को मार्च पास्ट के समय सलामी दी गई, तो श्रोपशायर अपने फौजी झंडे के साथ-साथ भारतवर्ष, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के झंडे लहरा रहे थे। श्रोपशायर के बैडमास्टर ने इस अवसर के लिए एक विशेष धुन 'कॉमनवेल्थ डिवीजन' बनाई थी। (दि स्टेट्समैन, 2 सितम्बर 1952)।

हमारी जनता के लिए इससे अधिक अपमानजनक और क्या हो सकता है कि हमारा राष्ट्रीय ध्वज उन साम्राज्यवादियों के रक्त-रंजित ध्वज के साथ लहराए और भारतीय एक अंग्रेज बैडमास्टर की धुन पर मार्च करें। इसलिए प्रगतिशील लेखकों ने हमेशा कहा है कि साम्राज्यवादियों के साथ कोई समझौता नहीं होगा; ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से बाहर आओ।

जरा सोचिए कि लंदन का इकॉनोमिस्ट, जो अंग्रेजों के बड़े व्यापारिक घरानों का मुखपत्र है, भारत के बारे में कहता है कि यह एक अच्छा सौदा है और फिर भी आगे आकर हमारी मदद करने की हिम्मत करता है; ताकि हम एक सहनशील और मानवतापूर्ण समाज बन सकें। 20 दिसंबर 1952 के अंक में वह लिखता है, 'विश्व के स्वतंत्र राष्ट्रों को तय करना है कि एक बड़े परिप्रेक्ष्य में भारत एक अच्छा निवेश है या नहीं... अगर साम्यवादियों के साथ शीत युद्ध न भी हो, एशिया के इस महत्वपूर्ण भाग में पश्चिम को घुसपैठ बनानी होगी; ताकि स्वतंत्र समाज का प्रयोग सफल हो सके। वस्तुस्थिति यह है कि चुनौती स्पष्ट है, क्योंकि सर्वसत्तावादी भारतीय सीमा तक पहुँच चुके हैं और हम चाहें या न चाहें, आमना-सामना तो होगा। ऐसी हालत में ब्रिटिश कॉमनवेल्थ या अमरीका के लिए भारत की मदद न करना, ताकि वह एक सहनशील और मानवतापूर्ण समाज के दायरे में रहते हुए आगे बढ़ सके, मूर्खतापूर्ण होगा।'

अंग्रेज साम्राज्यवादी इस वास्तविकता को भूल जाते हैं जब वे इस असहनशील तरीके से बात करते हैं। कौन नहीं जानता कि किस तरह के 'सहनशील और मानवतापूर्ण' समाज का निर्माण

वह केन्या और मलेशिया में कर रहे हैं, कौन नहीं जानता उनके स्वतंत्र समाज के प्रयोगों को, कैसे उन्होंने अपने उपनिवेश बाजारों में एक बहुसंख्यक जनता को अकाल, अशिक्षा और बे-रोजगारी के गर्त में धकेल दिया है। वे जो चाहते हैं वह बड़ा स्पष्ट है। वे लोकतांत्रिक चीन और रूस के खिलाफ भारत से मदद और इसके लिए वह देश में अपनी पूंजी निवेश करना चाहते हैं। किन्तु हम तो भारत को भारतवासियों के लिए चाहते हैं, न कि अंग्रेजों या अमरीकियों के लिए। अपने पड़ोसी देशों के साथ शांति और मैत्रीपूर्ण संबंध चाहते हैं, और साम्राज्यवादियों के हाथ में कठपुतली नहीं जो मानवता को तीसरे विश्व युद्ध में झोंक देना चाहते हैं।

शांति और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उद्देश्य लिए प्रगतिशील साहित्य को संबद्ध करने के खिलाफ अजीब-अजीब तर्क दिए जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं, यह राजनीति है। साहित्य को राजनीति से अलग रखना चाहिए, यह उनकी मांग है। लेकिन उनके साहित्य में भी राजनीति है, एक घृणित और घटिया राजनीति, ये वे नहीं मानते। जनता के भाग्य को बदलने वाली कार्यवाही में दखल न देने वाली राजनीति, एक ऐसे उद्देश्य के खिलाफ आक्रामक राजनीति, जो सारे देशवासियों के जीवन को खुशहाल बनाता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह तो साम्यवादी पार्टी का कार्यक्रम है। यह वर्ग-विशेष का कार्यक्रम है, जो सारे लेखकों को एक सूत्र में कैसे बांध सकता है। अगर कम्युनिस्ट शांति और स्वतंत्रता के लिए काम करते हैं, तो उनके संपर्क में आने से यह विचार अशुद्ध नहीं हो जाते हैं। विश्व शांति आंदोलन के खिलाफ साम्राज्यवादी दुष्प्रचार को कौन नहीं जानता, इसे कम्युनिस्ट प्रदर्शन कहते हैं? इस कम्युनिस्ट विरोधी अभियान से प्रगतिशील लेखकों के शांति और साहित्य के राष्ट्रीय स्वाधीनता के उद्देश्य पर कोई प्रतिकूल असर नहीं पड़ने वाला।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के पूर्ण रूप से विकसित होने के लिए, हमारे लोगों को गरीबी और अशिक्षा की वर्तमान स्थिति से बाहर निकलना होगा।

भारतवर्ष के बड़े-बड़े जमींदार और पूंजीपति उन्हें पिछड़े हुए ही रखना चाहते हैं, उनका शोषण करना चाहते हैं और इस तरह वे हमारे आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में बाधा पहुंचाते हैं। जनता की प्रगति लोकतांत्रिक स्वाधीनता के बिना संभव नहीं है। इसलिए प्रगतिशील लेखक इस स्वाधीनता के लिए लड़ते हैं। प्रगतिशील लेखकों, कम्युनिज्म और रूस के खिलाफ भारतीय पूंजीवादियों के अखबारों में यह दुष्प्रचार किया जाता है कि उनकी लोकतांत्रिक स्वाधीनता आज तो कम नहीं है और उसे खतरा भी नहीं है, लेकिन भविष्य में ऐसा ही होगा। प्रेस बिल और 'प्रिवेंशन डिटेक्शन एक्ट' एक अलग कहानी कहते हैं। इस दुष्प्रचार का उद्देश्य है कि लोगों का ध्यान लोकतांत्रिक स्वाधीनता के बचाव और प्रसार से हटाया जा सके।

बड़े उत्साह से लेखों में कहा जाता है कि प्रगतिशील लेखक संघ को कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव से मुक्त हो जाना चाहिए। इन लेखों में साम्राज्यवादियों और जमींदारों के दबाव का जिक्र नहीं होता, जो हमारी कला और साहित्य की प्रगति में बाधा पहुंचा रहे हैं, वे विदेशी साम्राज्यवादी चंगुल से हमारी राष्ट्रीय संस्कृति को मुक्त कराने की बात नहीं करते। वे जब प्रगतिशील लेखकों पर कम्युनिस्ट पार्टी के दबाव की बात करते हैं, उनके कहने का मतलब यह होता है कि गैर-कम्युनिस्ट लेखकों को कम्युनिस्ट लेखकों के साथ काम नहीं करना चाहिए। जाहिर है कि ऐसे असहयोग से केवल वही लोग खुश होंगे, जो सत्ता में हैं और जो जनता की कीमत पर लाभ उठाते हैं। ऐसा कुछ नहीं है कि कम्युनिस्ट लेखकों का प्रगतिशील लेखक संघ पर भारी दबाव है। कम्युनिस्ट हों या गैर-कम्युनिस्ट, सभी मुद्दे आपसी बातचीत से तय किए जाते हैं, लेकिन ऐसे लोग जिनके निहित स्वार्थ हैं और जो लेखकों पर अपना नियंत्रण छुपाए रखना चाहते हैं, अपने खेल में सफल नहीं हो पा रहे हैं और सभी जगह मात खा रहे हैं। (अगले अंक में समाप्त)

9810018167 (विजय मोहन शर्मा)

2 अक्टूबर

राष्ट्रवाद, रवींद्रनाथ और गांधी

इकबाल अहमद से अमरीकी पत्रकार डेविड बरसामियन का साक्षात्कार

अनुवाद एवं प्रस्तुति

अच्युतानंद मिश्र

अमेरिका में एक समय जन बुद्धिजीवियों की एक चौकड़ी हुआ करती थी- नोम चोमस्की, हॉवर्ड जिन, एडवर्ड सईद और इकबाल अहमद। अमेरिका के ही एक लोकप्रिय पत्रकार डेविड बरसामियन ने इन बुद्धिजीवियों से बातचीत की कई पुस्तकें तैयार कीं। इकबाल अहमद (1933-1999) से साक्षात्कार में भारतीयता की अवधारणा, देश-विभाजन और गांधी जैसे प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया गया है। वे अपने युद्ध-विरोधी रुख और पूरब के अध्ययन के लिए विशेष रूप से याद किए जाते हैं। गांधी और राष्ट्रवाद उनके चिंतन की धुरी हैं। बिहार में जन्मे इकबाल अहमद पश्चिमी देशों में शिक्षण कार्य करते हुए अंततः अमरीका में बस गए थे। उनसे अमेरिका के पत्रकार डेविड बरसामियन की बातचीत के कुछ अंश यहाँ दिए जा रहे हैं जिनसे एक युग में रवींद्रनाथ के साथ गांधी के चले विवाद के अलावा देश-विभाजन के कुछ कारणों का बोध होता है।

प्रश्न : आपके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना आपके पिता की हत्या थी।

उत्तर : बिल्कुल, उसने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके परिणामस्वरूप मेरा बचपन बुरी तरह प्रभावित हुआ। साथ ही अवचेतन में ही सही मैंने इससे जीवन के संबंध में कुछ निष्कर्ष भी निकाले। अव्वल तो यह कि वर्ग रक्त संबंधों से अधिक महत्वपूर्ण है और संपत्ति लोगों को मित्रों और शुभचिंतकों से अधिक प्रिय है, क्योंकि मेरे पिता की हत्या में कुछ परिजन ही शामिल थे।

वे पिता की राजनीति से अपने संपत्ति- अधिकारों पर खतरा महसूस कर रहे थे। वे राष्ट्रवादी थे और जमीनें बांट रहे थे। इस तरह वे एक खराब उदाहरण पेश कर रहे थे।

प्रश्न : भारत का दो राष्ट्रों में बंटना और परिणामस्वरूप हत्याओं का अंतहीन सिलसिला, क्या इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता संभव नहीं था ?

-मैं समझता हूँ- था। जब दो राष्ट्रों का सात सौ वर्षों तक सह-अस्तित्व रहा हो, ऐसे में यह मानना कि विभाजन के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं था, उचित नहीं लगता। मैं समझ नहीं पाता हूँ कि क्यों भारत के नेता (हिंदू और मुस्लिम दोनों) और गांधी दो संप्रदायों, एक हिंदू दूसरे मुस्लिम जो साथ-साथ रहते आए थे, के ऐतिहासिक साहचर्य को सुनिश्चित नहीं कर पाए। संबंधों में तनाव था, लेकिन संबंधों में तनाव होते रहते हैं। सब कुछ के बावजूद दोनों धर्मावलंबी ही एक-दूसरे के साथ सौहार्दपूर्ण तरीके से रहते आए थे। इस प्रक्रिया में बहुत कुछ विकसित हुआ था। एक सभ्यता विकसित हुई थी। मुसलमानों की अपनी भाषा और इस उपमहाद्वीप के लोगों की भाषा के सम्मिलन से नई भाषा उर्दू का जन्म हुआ था। यह संवाद की सामान भाषा बनी। कला और संगीत के नए रूपों का उद्भव हुआ। उत्तर भारतीय संगीत दक्षिण कर्नाटकी परंपरा से एकदम भिन्न है।

विभाजन से बचा जा सकता था, लेकिन जैसा कि महान कवि एवं लेखक रवींद्रनाथ टैगोर ने लक्षित किया था, यह तब तक संभव नहीं था जब तक भारत का साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन राष्ट्रवाद के विचार से खुद को अलग रखने की अनिवार्यता को समझ नहीं लेता। हमने पश्चिमी साम्राज्यवाद को अस्वीकार कर दिया, लेकिन इस प्रक्रिया में पश्चिम के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को अपना लिया।...

गांधी और टैगोर के बीच एक महत्वपूर्ण संवाद उपलब्ध है जिसमें टैगोर गांधी को आगाह करते हुए कहते हैं- 'देखिए, जिस तरह की राजनीति

को आप भारत में ला रहे हैं, वह इन दोनों मुल्कों को बांट कर रहेगा।'

प्रश्न : गांधी के उस रुख के संदर्भ में क्या कहेंगे जहाँ वे



इकबाल अहमद

हिंदूवाद को प्रभावित करने के लिए हिंदू शब्दावली, राम राज्य की परिकल्पना और भजन-कीर्तन का आग्रह करते हैं? क्या आपको लगता है कि इसने कुछ मुसलमानों को असहज करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई?

ऐसा हुआ। लेकिन जहाँ तक गांधी को एक तरह से हिंदू सांप्रदायिक मानने का प्रश्न है, जो कि पाकिस्तान के राष्ट्रवादी धड़े का उनके खिलाफ दृष्टिकोण है, मैं कहना चाहूंगा कि सबसे ऊपर वे ऐसे साम्राज्यवाद-विरोधी थे जिन्होंने राजनीतिक अवसरों को समझा था। इसी ने उन्हें भारतीय राजनीति में अध्यात्मवाद एवं धर्म को प्रस्तुत करने की ओर उन्मुख किया था।...

प्रश्न : ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी अंतर्विरोधों की राजनीति कर रहे थे। एक तरफ वे ब्रिटिश शासन की साम्राज्यवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं तो दूसरी तरफ एक नष्ट होती एवं बिखरती हुई तुर्की ओटोमन साम्राज्यवाद का समर्थन करते हैं।

-ब्रिटिश शासन को कमजोर करने के लिए वे मुसलमानों को संगठित करते हैं, यह जानते हुए कि हिंदू-मुस्लिम एकता साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन के लिए बेहद अनिवार्य है। उनके लिए यह एक ऐसा मुद्दा था जिसके तहत वे भारतीय मुसलमानों की चेतना को प्रभावित कर रहे थे और मुसलमानों को यह बता देना चाह रहे थे कि 'देखिए हम आपकी तरफ भी हैं। मैं आपके मुद्दों का भी समर्थन कर सकता हूँ।' लेकिन जिस बात को वह नहीं सोच पा रहे थे... वह था, दीर्घ काल में इसका क्या असर होने वाला है? जिन्ना इसे

सोच पा रहे थे। उदाहरण के लिए टैगोर ने सोचा था कि गांधी का असहयोग आंदोलन भी हिंदुओं और मुसलमानों को बांटेगा और वह भारतीय समाज में गहरे अंतर्विरोध उत्पन्न कर देगा। आप टैगोर के उपन्यास 'घरे-बायरे', जिस पर सत्यजित रे ने फिल्म बनाई है, में टैगोर के इस दृष्टिकोण को देख सकते हैं।

1920 में टैगोर ने यह विचार रखा कि राष्ट्रवाद असमानता एवं विभाजन पर आधारित अपवर्जन एवं अलगाव की संवेदना को उभारता है और सामान तत्वों के अस्तित्व को नकारता है। दूसरी तरफ, एक संगठित अवधारणा के रूप में अहिंसा का सिद्धांत धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से अलगाव और हिंसा की संवेदना के बीज बोता है। इसलिए उस दौर की हिंसा के मूल में अहिंसा का वह सिद्धांत था जिसे गांधी व्यापक तौर पर प्रचारित एवं व्याख्यायित कर रहे थे।...

1921 में जुलाई के मध्य टैगोर के आवास पर कलकत्ते में गांधी उनसे मिले। गांधी ने कहा, 'लेकिन गुरुदेव, हिंदू-मुस्लिम एकता को मैं पहले ही सुनिश्चित कर चुका हूँ', टैगोर ने कहा, 'गांधीजी, आइए, इधर देखिए। मेरे बरामदे के किनारे यहाँ खड़े होकर देखिए। देखिए, नीचे की तरफ आपके तथाकथित अहिंसावादी कार्यकर्ता क्या कर रहे हैं।' इसके बाद टैगोर ने उन्हें बाजार का दृश्य दिखलाया, जहाँ असहयोगवादी कार्यकर्ताओं द्वारा कपड़ों की होली जलाई जा रही थी। टैगोर ने सवाल किया, 'क्या आप समझते हैं कि आप हिंसक भावनाओं को अपने अहिंसा के सिद्धांतों द्वारा नियंत्रित कर सकेंगे? मुझे नहीं लगता



ऐसा हो सकेगा। यह आप भी जानते हैं।' इस विषय पर वे गांधी से अगले दो वर्षों तक बहस करते रहे। 26 वर्षों बाद 1947 में जो हुआ, उसे रवींद्र वस्तुतः गांधी के बनिस्पत बेहतर समझ पा रहे थे।

प्रश्न : हालांकि गांधी और उनका आंदोलन प्रमुख मुसलमानों को आकर्षित करने में सफल था। अबुल कलाम आजाद के अलावा बादशाह खान और अन्य कई थे। इसके पीछे क्या कारण थे ?

-अधिकांश मुस्लिम धार्मिक नेता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और गांधी के पक्ष में थे। मौलाना आजाद के अतिरिक्त मौलाना हुसैन अहमद मदनी भी थे। ये सभी महत्वपूर्ण धार्मिक विद्वान थे। आधुनिक भारतीय इतिहास की यह विडंबना और अव्याख्यायित पक्ष ही है कि पाकिस्तान के विचार का पुरजोर विरोध मुख्य रूप से भारतीय इस्लाम विशेषज्ञों ने किया। अन्य कारणों के साथ-साथ एक तथ्य यह भी था कि उलेमाओं ने इसका विरोध किया था। उलेमा जो भारत में इस्लाम के ज्ञाता थे, उनका मानना था कि राष्ट्रवाद का सिद्धांत गैर-इस्लामी सिद्धांत है, क्योंकि राष्ट्रवाद सीमाएँ खड़ी करता है। इस्लाम किसी तरह की सीमाओं को नहीं मानता। यह सिद्धांत इस्लाम की सार्वभौमिकता, जो उसके मूल में अंतर्निहित है, से टकराता है। दूसरी तरफ, अधिकांश मुस्लिम राष्ट्रवादी एवं पाकिस्तान के पैरोकार, आधुनिक मध्यवर्ग से संबद्ध थे। उलेमाओं का धार्मिक नेतृत्व मध्यवर्ग के इस उभार से चिंतित था। मध्यवर्ग का यह तबका वर्ग के दृष्टिकोण, शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन और संस्कृति के स्तर पर उलेमाओं से भिन्न था। इसलिए यह तबका अलग होना चाहता था।

प्रश्न : अगर गांधी राष्ट्रीय कांग्रेस का संकीर्णतावादी चेहरा थे तो क्या जवाहरलाल नेहरू को धर्मनिरपेक्ष मानना सही होगा ?

-गांधी न संकीर्ण थे और न ही संकीर्णतावाद के प्रतीक थे। यह जरूर है कि एक हद तक गांधी की राजनीति एवं संस्कृति ने अबूझ-अनजाने हिंदू

और मुस्लिम दोनों तरफ के संकीर्णतावादी उभार में मदद की। हालांकि इसमें गांधी का हाथ कभी नहीं रहा था। दोनों तरफ के संकीर्णतावादी उन्हें नापसंद करते थे, क्योंकि वे उन्हें एक सार्वभौमिक नेता के रूप में पाते थे। गांधी की हत्या एक हिंदू कट्टरपंथी द्वारा की गई। मरते वक्त उन्होंने 'हे राम' कहा था।...

नेहरू ऐसे उच्च-आधुनिक एवं राष्ट्रवादी नेता थे जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तहत धर्मनिरपेक्ष भारत के निर्माण के पक्षधर थे। व्यक्ति के रूप में नेहरू के प्रति मेरे मन में गहरा सम्मान है। इसके बावजूद मैं कहना चाहूंगा कुछ घटनाएँ ऐसी घटीं जिनसे बचा जाना चाहिए था।...

प्रश्न : 1947 से पहले ब्रितानी साम्राज्यवादी खेमे में क्या चल रहा था? क्या वे समुदायों के बीच मतभेद कराके शासन करने की नीति पर अमल कर रहे थे?

-यह राष्ट्रवादी दृष्टिकोण और मान्यता है कि ब्रिटेन ने भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन को संभव किया। मैं इतिहास को इस तरह नहीं पढ़ता। वास्तव में ब्रिटेन ने 1757 से लेकर 1920 तक भारत को सांप्रदायिक मान्यताओं के तहत विभाजित करने की नीति पर अमल किया। इसलिए विभाजन की इस नीति में कोई क्रमभंग नहीं आता। यह चलता रहा। अलग-अलग मतदान और प्रतिनिधि सुनिश्चित किए गए। जब मुसलमानों ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया-1757 से 1857 के मध्य, उन्हें अलगाया गया। अंग्रेजों द्वारा तब हिंदू शासकों का समर्थन किया गया। जब कांग्रेस संगठित हुआ और राष्ट्रवादी नेताओं का उभार हुआ, तब वे कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों का पक्ष लेने लगे।

इस तरह फूट डालो और राज करो की एक पूरी नीति थी। इसका अनुपालन ब्रिटेन तकरीबन दो सौ वर्षों तक करता रहा। मैं नहीं मानता हूँ कि इस वजह से भारत और पाकिस्तान के समक्ष विभाजन की रेखा खिंच गई।

हुआ यह कि क्रम से दो वायसराय आए। लॉर्ड

वावेल पहले आए, जल्द ही उन्हें वापस बुला कर उनके स्थान पर लॉर्ड लुइस माउंटबैटन को नियुक्त कर दिया गया। ऐसा लगता है कि भारत में जिस एकता की जरूरत थी वावेल उस दिशा में कुछ कदम उठाने लगे थे, जिसके तहत मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच एक तरह का समझौता विकसित होने लगा था। माउंटबैटन लेबर गवर्नमेंट की अगली पसंद थे। आते ही उन्होंने विभाजन की प्रक्रिया को तीव्र करने वाली नीतियों पर अमल करना शुरू कर दिया। यह बात सोचे बगैर कि क्या इससे या जो संभावित खूनखराबा है, जिसे हर कोई देख पा रहा था, बचा जा सकता है।

अंग्रेज भारत के विभाजन को थमने क्यों देते? यह एक रोचक प्रश्न है। इस संदर्भ में अब तक मैं पर्याप्त सामग्री नहीं जुटा पाया हूँ जो ब्रिटेन की इस दलील को झूठला सके कि देश-विभाजन की प्रक्रिया सरकारी नीतियों के बनिस्पत निजी महत्वाकांक्षाओं से ही अधिक संचालित हो रही थी। सचाई यह है ब्रिटिश नीतियों ने ही शुरू में विभाजन का आधार विकसित किया, फूट डालो और राज करो की नीति का लंबे समय तक अनुपालन किया गया और जब संकट सिर पर आया तो भारत की एकता को बचाने के लिए अंग्रेजों ने बहुत कम प्रयत्न किए।

प्रश्न : अगर इतिहास में थोड़ा क्रमवार पीछे लौटें तो जर्मनी और जापान का जो ब्रिटिश सत्ता पर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान आक्रमण हुआ, उसका राष्ट्रवादी आंदोलन पर किस तरह का प्रभाव पड़ा था? क्या इसने भारतीय राष्ट्रवादियों के समक्ष यह साबित किया कि बड़े से बड़ा साम्राज्य हार सकता है?

-ठीक-ठीक यह नहीं। द्वितीय विश्वयुद्ध से भी बड़ा प्रभाव रूस-जापान युद्ध का था।

प्रश्न : यह टैगोर का मत था।

-यह टैगोर का मत भी था। रूस-जापान युद्ध पिछले सौ वर्षों में पहला युद्ध था जिसमें एक गैर-पश्चिमी सेना ने पूरी तरह पश्चिम को परास्त

किया। लोगों को सौ वर्षों से साहित्य, संगीत, उपन्यास और तमाम चीजों के रास्तों से पूरे दमखम के साथ बताया जा रहा था कि पूर्व के देश उपनिवेश इसलिए बनाए गए, क्योंकि वे कमतर थे। वे उपनिवेश इसलिए बने, क्योंकि वे नस्ल के तौर पर पिछड़े हुए हैं, क्योंकि वे वैज्ञानिक चेतना में पिछड़े हुए हैं, क्योंकि वे सांठनिक रूप से पिछड़े हुए हैं, क्योंकि वे युद्ध संबंधी ज्ञान में, रणनीति में, योजनाओं के कार्यान्वयन में और हथियारों के संदर्भ में पिछड़े हुए हैं। तभी अचानक यह देखना कि एक एशियाई शक्ति ने एक पश्चिमी सत्ता को पूरी तरह ध्वस्त एवं परास्त कर दिया, यह बड़ा प्रभाव डालने वाला था।

भारत में उस वक्त लॉर्ड कर्जन वायसराय थे। डाउनिंग स्ट्रीट को दिए अपने मेमोरेंडम में उन्होंने लिखा है कि जापान की रूस पर विजय की प्रतिध्वनि पूरब की मर्मराहट की जगह उसके द्वारा वज्रपात की तरह है। प्रथम विश्वयुद्ध का व्यापक प्रभाव पड़ा था। भारत ब्रिटेन की तरफ से लड़ा था। हमारे सैनिक बहादुरी से लड़े थे। वे यूरोपीय मोर्चे पर लड़े थे। युद्ध भूमि में उन्होंने दो चीजें महसूस कीं— ब्रिटिश और यूरोपीय सेना के साथ उनकी बराबरी और साम्राज्य के साथ गैर-बराबरी। युद्ध भूमि में हर दिन वे बराबरी महसूस करते, साथ ही वे नस्लीय भेदभाव को भी महसूस कर रहे थे। इसलिए प्रथम विश्वयुद्ध से वे क्रोध की ज्वाला में जलते हुए लौटे थे। वे और उनके परिजनों ने लौट कर राष्ट्रवादी आंदोलन को मजबूत किया। भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ जनभावना का उभार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही हुआ।

प्रश्न : अब सीधे 1942 पर आते हैं, जब गांधी ने भारत छोड़ो आंदोलन चलाया था। अब आगे किसी तरह का सहयोग नहीं होगा, भारत, जर्मनी और जापान को परास्त करने के लिए कोई सहयोग नहीं करेगा। तब चर्चिल प्रधानमंत्री थे। इस घोषणा पर उन्होंने गांधी

की ओर इशारा करते हुए प्रतिक्रिया दी, 'मैं ब्रिटिश साम्राज्य का प्रधानमंत्री इसलिए नहीं नियुक्त हुआ हूँ कि एक अधनंगे भारतीय फकीर की बात मान लूँ।' इसी वक्त समूचे कांग्रेस के नेताओं को जेल में ठूस दिया गया था और जिन्ना के लिए मैदान खाली छोड़ दिया गया था।

-बल्कि इससे भी ज्यादा। अगर हम थोड़ी पड़ताल करें तो मुझे लगता है भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और खास कर महात्मा जी ने बड़ी गलती की। 1942 ब्रिटेन के लिए खासा कठिन था। लंदन पर धुआंधार बमबारी हो रही थी। फासिज्म के विरुद्ध ब्रिटेन का संघर्ष निर्णायक मोड़ पर था। वह एक छुई-मुई-सी स्थिति थी। जापान ने भारत पर लगभग चढ़ाई कर दी थी। कांग्रेस के वृत्त से सुभाष चंद्र बोस बाहर जा चुके थे। उन्होंने जापानी झंडे के तले इंडियन नेशनल आर्मी की स्थापना कर दी थी। गांधी और कांग्रेसी नेतृत्व एकदम सही कह रहे थे कि हम युद्ध प्रयत्नों को समर्थन इसी शर्त पर देंगे कि बदले में हमसे युद्धोपरांत आजादी का वादा किया जाए। लेकिन ब्रिटेन इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं था।

इस समय भारत छोड़ो आंदोलन को आरंभ करना एक रणनीतिक भूल थी। जिन्ना उस समय मुस्लिम लीग के नेता थे। कांग्रेस के साथ आंदोलन में जाने से उन्होंने मना कर दिया। उन्होंने ऐसा दो कारणों से किया। पहला यह कि वे हर अर्थ में फासीवाद विरोधी थे। जिन्ना गांधी की अपेक्षा अधिक अंग्रेजियत से भरे थे। वे सोच नहीं सकते थे कि इस वक्त कुछ ऐसा किया जाए जिससे अंग्रेजों के हितों को नुकसान पहुंचे। दूसरे, जिन्ना बहुत अधिक अवसरवादी थे। उनके लिए यह ऐसा मौका था, जब वे ब्रिटेन के समर्थन के साथ पाकिस्तान की मांग रख सकते थे। इससे पहले ब्रिटेन जिन्ना के प्रति इतना उदार हृदय कभी नहीं हुआ था!

लैटिन अमरीकी कविताएँ

अनुवाद : राजेश कुमार झा

चिली दुनिया का अंत

जिस दिन दुनिया का अंत होगा
वह दिन होगा बिलकुल साफ और व्यवस्थित
जैसे कक्षा के सबसे अच्छे छात्र की नोटबुक
शहर होगा पी कर मस्त
पड़ा हुआ नाले में

गुजरेंगी एक्सप्रेस गाड़ियाँ
स्टेशन पर बिना रुके
फौजी रेजिमेंट का बैंड
बीसों साल से चौराहों पर बज रही धुन का
करता रहेगा अभ्यास लगातार

बस कुछ बच्चे
टेलिफोन के खंभों पर
छोड़ देंगे अपनी उलझी हुई पतंगें
रोते हुए भागेंगे अपने घरों को
पता नहीं होगा उन्हें
कहना क्या है माँ को

और मैं मुसम्मी के तने पर
उकेरूंगा अपने दस्तखत
वैसे पता होगा मुझे
कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता

शहर के छोर पर खाली मैदान में
बच्चे फुटबॉल खेलेंगे
पवित्र संप्रदायों के लोग



जॉर्ज टेलियर

(1935-1996) स्पैनिश भाषा में
लिखने वाले चिली के सर्वश्रेष्ठ
कवियों में एक। कविता के बारे में
टेलियर का कहना है कि उसका
सबसे महत्वपूर्ण पक्ष सौंदर्यगत नहीं
है। कविता मिथकों को रचते हुए
ऐसे काल और स्थान का सृजन
करती है, जो हमारी रोजमर्रा की
जिंदगी से परे होती है; हालांकि
उसका जन्म उसी रोजमर्रा की
जिंदगी से होता है।

निकल आएंगे बाहर
गाएं गली के नुक्कड़ पर गाना
पगली बुढ़िया
सड़क पर छाता लेकर गुजरेगी
और मैं खुद से कहूंगा
दुनिया खत्म नहीं हो सकती
क्योंकि सामने मेरे आंगन में
कबूतर और गौरैया झगड़ रहे हैं
दानों के लिए, अब भी।

मुर्दों से बातचीत के लिए

मुर्दों से बातचीत के लिए
चुनने पड़ते हैं शब्द
जिन्हें वे पहचान सकते हों
उतनी ही आसानी से
जैसे उनके हाथ पहचान लेते हैं
अंधेरे में भी अपने कुत्ते के बदन के रोएँ

शब्द जो हों साफ और शांत
जैसे, शराब के प्याले में कैद
उफनती बारिश का पानी
जैसे मेहमानों के जाने के बाद
माँ करीने से सजा कर रख देती हैं कुर्सियाँ
शब्द जिन्हें सहेज कर रखती हैं रातें
जैसे दलदल संजो कर रखती है अपने अंदर आग
मुर्दों से बातचीत के लिए
होना चाहिए इंतजार करने का हुनर
क्योंकि वे हैं डरे हुए
जैसे बच्चा उठाता है पहला कदम

अगर सब्र हो हमारे अंदर
तो टूटे आईने में बंद पोपलार के पत्तों से
भट्टी में अचानक धधक आई ज्वाला से
चिड़ियों की अंधेरी वापसी से
और दहलीज पर इंतजार कर रही
लड़की की कनखियों से पहले
एक दिन सुनेंगे वे हमारी बात।



एडमंडो कामार्गो

(1936-1964) बोलिविया के
महत्वपूर्ण कवियों में गिना जाता
है। उनकी कविताएँ अनूठे बिंबों
के साथ-साथ अतिथार्थवादी
विषयों के लिए जानी जाती हैं।

बोलिविया

अदृश्य आबादी

मैं मरना चाहता हूँ धरती के नीचे
नमक से अनंत काल तक बातें करता
मेरे बाल हों जड़ें, मेरे शब्द मिट्टी
मुर्दों के शहर में
बुआई करती तुम्हारी आंखों की चोट से दूर
जहाँ मेरा मुँह हो चुका हो बंद
तेज बारिश की दुनिया
जहाँ पके बालों की मिठास हो
स्मृतियों से भी मीठी

जिस दिन छुआ जाएगी मेरी जीभ
कोमल हाथ सिलेंगे मेरी हड्डियाँ
मैं महसूस करना चाहता हूँ
इस गोल धरती को अपनी हड्डियों में
काटना चाहता हूँ इसे ठंड से
अपनी जांघों से पीसना चाहता हूँ
महसूस करना चाहता हूँ
इसकी नाभिनाल में खुद को



डेविड होर्ता

(जन्म :1949) स्पैनिश भाषा में लिखने वाले मेक्सिको के महानतम कवियों में एक। अपनी कविताओं के बारे में होर्ता कहते हैं कि बिंबों का इस्तेमाल कर वह ऐसी कविता लिखने का प्रयत्न करते हैं जो हमें बाजार से थोड़ा किनारे रह कर जीने में मदद करे।

मेरी आंखें हैं बंद, जैसे सील लगी पुरानी चिट्ठी
आंखों से झरता है पानी, बुरादों की तरह
पेड़ पर अटका है वसंती कब्र का पत्थर
और मेरी हड्डियों को कुरेद रहा
वक्त का पिस्सू।

मेक्सिको रेगिस्तान

चाहता हूँ
कोई न भूले रेगिस्तान की चमक
वक्त की सुलगती आग में सोती रहे रेत
बने रहे यूँ ही, रेगिस्तान के सूनेपन में
पहाड़ और घायल शरीर
स्मृतियाँ और खंडहर

चाहता हूँ
चमकता रहे हर घाव
और आसमान के लाल चेहरे पर
चिपक जाए हर चुंबन, एक बार फिर
प्रार्थना और गालियाँ
शर्म और आह्लाद
रंग जाएँ रेगिस्तान की ऊर्जा से

चाहता हूँ
तुम्हें सुननी पड़े हमेशा
चौराहों पर खून की फुसफुसाहट
टुकड़ा-टुकड़ा लाल आसमान
हाथों से टपकती गहन वेदना
निशानियाँ हैं उस वक्त की
जब उतरती है सुबह और उसकी कंपकंपाहट

चाहता हूँ
कुछ भी न हो मुँह में-

न कोई इन्सान, न कोई दूसरी चीज
बड़ी सी परछाई के अंदर रहे हर कोई
पुनर्जीवन की प्राचीन चमक
हर चीज को कर दे नम
चाहता हूँ
इस धरती की उड़ान में शामिल हों सब
यहाँ होने के जादू में शामिल हों
बिल्लियाँ और गिद्ध
कुत्ते और गोह
बंजर जमीन और फूलों का बगीचा
सोती हुई जलकुंभी और तन कर खड़ी जटामासी
चाहता हूँ
दिन के घंटों की नग्न ताल पर
आए रेगिस्तान और हो जाए गायब
दिन में घुलता जाए घंटा
साल कुतरता रहे दिन को।

अयोजिनाया

(यह कविता 2014 में लिखी गई थी, जब मेक्सिको के एक कॉलेज के छात्रों और शिक्षकों को पुलिस ने उस समय हिरासत में ले लिया था जब वे किसी विरोध प्रदर्शन में शामिल होने जा रहे थे। पुलिस ने उन्हें स्थानीय ड्रग माफिया के हवाले कर दिया। माफिया ने उन्हें प्रताड़ित कर मार दिया। उनकी लाशें क्षत-विक्षत कर, जला दी गईं और फिर नाले में फेंक दी गईं। होर्ता की यह एक प्रसिद्ध कविता है।)

हम परछाइयों में दांत गड़ाते हैं
और मुर्दे बाहर निकल आते हैं
जैसे हों रोशनी या फल
या खून की परखनली
जैसे गड्ढे से निकल आएँ हों पत्थर
जैसे आंत के कोमल रसों में
उग आई हों पत्तियाँ और टहनियाँ
मृतकों के हाथ डूबे हैं संताप में
हवा के कफन से अकड़ चुके हाथ

अपने साथ अनंत व्यथा को लाने के
कर रहे इशारे
भाइयों और बहनो
यह गड्ढों का मुल्क है
आक्रंदनों का देश
आग में जलते शिशुओं की भूमि
प्रताड़ित स्त्रियों का राष्ट्र
वह देश जो कल तक था मुश्किल से एक देश
आज भुला दिया गया है उसका कल
नशीले धुएँ के नर्क में
अपनी ओर खींचती आग से लाचार
गुम हो चुके हैं हम
हमारी आंखें खुली हैं
जिसमें टूस कर भरे हैं कांच के टुकड़े
जो मर चुके हैं, हो चुके हैं गायब
उनकी तरफ बढ़ाते हैं हम अपने जिंदा हाथ
मगर अनंत दृष्टियों के इशारे करते वे
ठिठक जाते हैं हट जाते हैं पीछे

रोटियाँ जल चुकी हैं
जड़ों से उखड़ चुका है
जल चुका है जिंदगी का चेहरा
न कोई हाथ है, न मुल्क, न कोई चेहरा
आंसुओं से डूबी एक कंपनी बची है
और लंबी चीत्कार
हम समझ नहीं पाते
कौन है जिंदा, कौन मृत

इसे पढ़ने वालों को समझना होगा
कि टूटी हुई आत्मा की पहचान की तरह
उन्हें फेंक दिया गया है
शहरों के धुएँ के समंदर में
इसे पढ़ने वालों को समझना होगा
कि इस सबके बावजूद
मरने वाले न कहीं गए हैं
न ही उन्हें किया गया है गायब
बरकरार है मरने वाले का जादू
सूरज के उगने में और चम्मच में

पैरों में और मक्के के खेतों में
तस्वीरों में और नदियों में
हमने दी है इस तिलस्म को
हवाओं की रूपहली शांति
अपने मरने वालों को
जवानी से भरपूर लाशों को
हमने दी है आसमान की रोटी
पानी का झरना
उदासियों का वैभव

अपनी हिकारतों की सफेदी
और जिंदा बचे लोगों की
टूट कर बिखरी यादें
दोस्तो बेहतर है अब चुप रहना
अपने हाथों और दिमाग को खोलना
ताकि हम इस शापित भूमि से
कर सकें अलग
टुकड़े-टुकड़े हृदय के अवशेष
जो अब भी हैं या थे कभी।



नेस्टर पेरलॉघर

(1949-1992) नेस्टर पेरलॉघर
अर्जेंटीना के सबसे प्रभावशाली
कवि, समलैंगिक अधिकारों के लिए
संघर्ष करने वाले जुझारू राजनीतिक
व्यक्ति थे। अर्जेंटीना में फौजी शासन
आने के बाद 1976 से उन्होंने
ब्राजील में निर्वासित जीवन बिताया।
नेस्टर पेरलॉघर का मानना था कि
तानाशाही व्यवस्था के अंदर कविता
ही प्रतिरोध के साधन के रूप में बची
रहती है।

अर्जेंटीना बावेरिया के नाजियों के लिए प्रेमगीत

मर्लिन डाइट्रिच ने
लंदन में गाया था गाना युद्ध के दौरान
'ओ, नहीं, नहीं, पता नहीं, करती हो तुम मुझे प्यार
ओ, नहीं, नहीं, पता नहीं, करती हो तुम मुझे प्यार'
नेल्सन, तुमने सिर्फ अपने पिता को किया था प्यार
जो मरे थे ट्रेफ्लगर में
तुम्हारा प्यार था संदिग्ध,
आखिर तुम्हारे पिता ठहरे एक नाजी
नाजियों की दोस्ती का उत्कर्ष था वह
खेलते थे टेबुल के नीचे हम
जर्मन फौजियों को मारने का खेल
पर मैं बैठता था तुम्हारे पास नेल्सन
तुम जो थे नाजियों के एजेंट
और तुमने मारा था मुझे बहुत
ओ, नहीं, नहीं, पता नहीं, करती हो तुम मुझे प्यार
हाँ, हाँ, मारा मुझे तुमने हमेशा
बड़े दिखावे के साथ मांगी थी तुमने मुझसे माफी
कंधे पर रखी थी मेरे गर्म, ऊनी चादर
और हम करने वाले थे प्यार
वहीं छत पर

लेकिन तुमने देख ली रखी एनी फ्रैंक, ओह!
'ओ, नहीं, नहीं, पता नहीं, करती हो तुम मुझे प्यार
हाँ, हाँ, मारा मुझे तुमने हमेशा'

हेल, हेल, हेल, यहाँ या
कहीं दूर किसी कहानी में
तुम हो नाजी जासूस
हो रेगिस्तान में जलते रेत की तरह
रोमेल की फौज की पिस्तौल
डूबते सूरज या चमकती गोधूली में
मरने आया ऊंट, जैसे पहुंच गया हो नखलिस्तान
और अपनी आंतों में महसूस की थी मैंने
तुम्हारे स्वस्तिक की हलचल
ओह, ओह, ओह!

लाशें

झाड़ियों के नीचे
खाली जमीन में



पीदाद बोनेट

(जन्म : 1951) कोलंबिया के आधुनिक
स्त्रीवादी कवियों में एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर।
उनकी कविताओं में हिंसा और संघर्ष में डूबे
देश की मध्यवर्गीय औरतों के जीवन के
अनुभवों की अभिव्यक्ति हुई है।

पुलों पर
लाशें हैं

कभी नहीं रुकने वाली ट्रेन की धड़कन में
डगमगाते जहाज के गुजरने के बाद
उठती, छोटी-छोटी और गायब होती तरंगों में
रेलगाड़ी के प्लेटफॉर्म पर
मचानों पर, दीवारों पर
लाशें हैं

मछुआरों के जालों में
दलदली केकड़ों के बिलों में
खुली हुई क्लिप में उलझी लड़की के बालों में
लाशें हैं

इस अनुपस्थिति की जरूरत में
इस शब्द के खास अर्थ में
आपकी दैवी उपस्थिति में
फौजी तमगों में, कमांडेंट
लाशें हैं!

कोलंबिया

एक इन्सान की जीवनी

मेरे पिता बहुत जल्द डरने लगे थे अपने पैदा होने से
लेकिन उन्हें याद आ गए मनुष्य के कर्तव्य
जिसने उन्हें सिखाया-

प्रार्थना, बचत और काम

बहुत जल्द मेरे पिता अच्छे इन्सान बन गए
(असली इन्सान जैसा कि मेरे दादा जी कहते थे)
कुत्ते की तरह मुँह पर बंधी जाली, घिघियाते
गहरे मन के अंदर डर

ओह मेरे पिता!

लड़कपन में थीं उनकी उदास आंखें

बुढ़ापे में हाथ थे उतने ही शांत और स्वच्छ

जैसे होती है सुबह की चुप्पी

हमेशा-हमेशा छाई रहती थी चेहरे पर

अकेलेपन की छाया

इसलिए मेरे जन्म लेते ही
 उनके बेचैन मन ने दे दिया मुझे
 वह सब जो वे समझ पाए
 जिसमें शामिल था प्यार से दिया अपना डर
 ईमानदार इन्सान की तरह
 करते थे काम
 मेरे पिता, हर सुबह
 जब भी मुमकिन हो पाता
 वे उठते थे हर रात
 और ले आते किशतों में थोड़ी-सी मौत
 जिसे चाहते थे वे हमेशा
 बड़े हिसाब से चुकाते थे इसकी कीमत
 साल-दर-साल रह कर निडर
 एक ईमानदार आदमी की तरह मेरे पिता।

दुनिया की सल्तनत के बारे में

मैं उस लड़की की बात कर रही हूँ
 जिसका चेहरा आग से बदरंग हो चुका है
 पर तने हुए सुंदर दो स्तन हैं
 जैसे रोशनी की दो खिड़कियाँ
 मैं अंधे लड़के की बात कर रही हूँ
 जिसकी माँ रंगों के लिए इजाद करती है शब्द

मैं कटे होंठों वाले
 उस चुंबन की बात कर रही हूँ
 जो दिया न जा सका कभी
 उन हाथों की बात कर रही हूँ
 जो न जान सके कि
 हल्की बारिश होती है वैसी ही नाजुक
 जैसे किसी चिड़िया की गरदन
 उस बौड़म लड़की की बात कर रही हूँ
 जो निहार रही है ताबूत
 जिसमें दफन होने वाले हैं उसके पिता
 मैं ईश्वर की बात कर रही हूँ
 गोले की तरह पूर्ण
 सर्वशक्तिमान, ज्ञानी और न्यायप्रिय!

प्रार्थना

हे समुद्र में डूबे जहाजों के देवता
 अपने दिनों के लिए नहीं मांगती हूँ
 प्यास बुझाने को पानी
 मांगती हूँ तुमसे प्यास
 नहीं मांगती हूँ सपने
 दे दो मुझे सपनों की चाहत
 रातों के लिए
 दे दो मुझे सारा अंधकार
 डुबो दूँ जिसमें मैं अपना सारा अंधेरा।

राजेश कुमार झा को अनुवाद, लेखन तथा संपादन का लंबा अनुभव। इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण प्रकाशनों के लिए अनुवाद का कार्य किया। ओरहान पामुक के उपन्यास 'माई नेम इज रेड' का हिंदी में अनुवाद किया है। वर्तमान में आकाशवाणी, नई दिल्ली के समाचार सेवा प्रभाग में निदेशक के पद पर।
 मो. 9810216943



रूसी कहानी

ढंढ युद्ध निकोलाई तेलेशोव अनुवाद : सुशांत सुप्रिय

सुबह तड़के। व्लैदिमीर क्लादूनोव नाम का बाईस वर्ष का एक लंबा, रूपवान युवक उस घास के मैदान पर खड़ा था जिस पर ताजा बर्फ गिरी हुई थी। युवक का मनोहर चेहरा किसी लड़के जैसा था और उसके बाल घने और घुंघराले थे। उसने एक अधिकारी की वर्दी पहन रखी थी। उसके पैरों में घुड़सवारी वाले लंबे जूते थे। लेकिन उसने ओवर-कोट और टोपी नहीं पहनी हुई थी। वह लाल चेहरे और मूंछों वाले एक अन्य अधिकारी को घूर रहा था, जो उससे तीस मीटर दूर खड़ा था। वह अधिकारी धीरे-धीरे अपने उस हाथ को उठा रहा था जिसमें उसने रिवाल्वर पकड़ रखी थी। हाथ उठा कर उसने रिवाल्वर का निशाना व्लैदिमीर पर साधा।

व्लैदिमीर के भी एक हाथ में रिवाल्वर थी, किंतु ऐसा लग रहा था जैसे वह लगभग उदासीनता से प्रतिद्वंद्वी की गोली की प्रतीक्षा कर रहा था। उसका रूपवान, युवा चेहरा हर रोज की अपेक्षा कुछ फीका था, हालांकि वह निडरता से स्थिति का सामना कर रहा था। उसके चेहरे पर तिरस्कार की हँसी थी। वह अभी खतरनाक स्थिति में था। उसका प्रतिद्वंद्वी निर्दयी और दृढ़ निश्चय वाला था। उन दोनों के कर्मठ सहायक सावधानी से एक ओर खड़े थे। मृत्यु की सन्निकटता उस पूरे पल को भयानक तीव्रता, रहस्यमयता और गंभीरता प्रदान कर रही थी। मान-मर्यादा के एक प्रश्न का फैसला होना था। हर व्यक्ति इस प्रश्न की महत्ता से परिचित था। वे क्या कर रहे हैं, इस बात को वे जितना कम समझ रहे थे, पल की गंभीरता उतनी गहरी होती जा रही थी।

गोली चली। सबकी देह में कंपकंपी दौड़ गई। व्लैदिमीर के हाथ नीचे की ओर गिरे, उसके घुटने मुड़ गए और वह जमीन पर लुढ़क गया। वह बर्फ पर गिरा पड़ा था। गोली उसके सिर को चीर कर निकल गई थी। उसके हाथों, बाल, चेहरे और सिर के आस-पास की बर्फ खून से लाल थी। सहायक उसकी ओर दौड़े और उन्होंने उसे उठा लिया। मौके पर मौजूद डॉक्टर ने उसकी मृत्यु की पुष्टि कर दी और मान-मर्यादा के प्रश्न का हल निकल गया।

अब केवल रेजीमेंट में इस खबर की घोषणा की जानी बाकी थी। साथ ही, जितनी

कोमलता और सावधानी से हो सके, मृतक की माँ को इस घटना की सूचना दी जानी थी। वह वृद्धा अब दुनिया में अकेली रह गई थी। जिस युवक की मृत्यु हुई थी, वह उस वृद्धा का इकलौता बेटा था। द्वंद्वयुद्ध से पहले किसी ने उस वृद्धा के बारे में सोचा नहीं था, किंतु अब वे सभी बेहद सहृदय हो गए थे। वे सभी उस वृद्धा माँ को जानते थे तथा उसके प्रति स्नेह का भाव रखते थे। वे इस तथ्य से अवगत थे कि उस वृद्धा को यह भयावह समाचार सुनने के लिए धीरे-धीरे तैयार किए जाने की जरूरत है। उस वृद्धा माँ को यह सूचना देने के लिए अंत में इवान गोल्युबेन्को को सबसे उपयुक्त पाया गया और उम्मीद की गई कि वह इस मामले को जितनी शांति से हो सके, निपटा दे।

वृद्धा पेलेजिया पेत्रोव्ना कुछ देर पहले ही सो कर उठी थी। इस समय वह सुबह की चाय बना रही थी, जब उदास और चकराया हुआ इवान कमरे में दाखिल हुआ।

‘चाय पीने के लिए बिल्कुल सही समय पर आए हो, इवान।’

बड़े मिलनसार ढंग से बोलते हुए उस वृद्धा ने उठ कर मेहमान का स्वागत किया, ‘तुम जरूर व्लैदिमीर से मिलने आए होगे!’

‘जी, दरअसल मैं... इधर से गुजर रहा था...’ इवान ने घबरा कर हकलाते हुए कहा।

‘माफ करना। वह तो अभी सो रहा है। कल सारी रात वह कमरे में इधर-से-उधर चहलकदमी करता रहा। इसलिए मैंने नौकर से भी कहा कि वह उसे न उठाए, क्योंकि आज यँ भी त्योहार का दिन है। तुम शायद जरूरी काम से आए हो?’

‘जी नहीं, मैं तो यहाँ से गुजरते हुए बस यँ ही एक मिनट के लिए...।’

‘अगर तुम उससे मिलना चाहो, तो मैं उसे नींद से जगा दूँगी।’

‘नहीं, नहीं, आप तकलीफ न करें!’

लेकिन पेलेजिया पेत्रोव्ना को लगा कि वह उसके बेटे से जरूर किसी जरूरी काम से मिलने आया है। इसलिए वह कुछ बुदबुदाते हुए कमरे से

बाहर चली गई। इवान बेचैनी से कमरे में इधर-से-उधर टहलने लगा। वह अपने हाथ मलते हुए यह सोच रहा था कि वह वृद्धा को उसके बेटे की अकाल मृत्यु की भयावह सूचना कैसे दे। निर्णायक घड़ी अब जल्दी ही पास आ रही थी, किंतु वह खुद पर नियंत्रण खोता जा रहा था। वह बेहद डरा हुआ था और अपनी किस्मत को कोस रहा था जिसके कारण उसे इस सारे मामले में घसीट लिया गया था।

‘अरे, तुम युवकों पर कौन भरोसा कर सकता है!’ कमरे में प्रवेश करते हुए पेलेजिया पेत्रोव्ना ने खुशमिजाजी से आगंतुक से कहा। ‘यहाँ मैं पूरी कोशिश कर रही हूँ कि बर्तनों की वजह से कोई शोर न हो, और तुम्हें कह रही हूँ कि मेरे बेटे को न उठाया जाए। पर वहाँ वह बिना पीछे कोई निशान छोड़े पूरा-का-पूरा गायब हो चुका है। लेकिन प्रिय इवान, तुम तो जरा बैठो और चाय पियो। इधर हाल में तुम हमें उपेक्षित करते रहे हो!’

वह जैसे किसी गुप्त खुशी से अभिभूत होकर हँसी और फिर उसने धीमे स्वर में कहा, ‘और इस समय हमें कितनी खबरें पता चलीं! व्लैदिमीर वाकई इसे गुप्त नहीं रख सका। अब तक तो उसने तुम्हें भी इसके बारे में सब कुछ बता दिया होगा, क्योंकि मेरा व्लैदिमीर बेहद सीधा-सादा और खुले दिल वाला है।’

‘कल रात मैं अपने पापमय विचारों में डूबी यह सोच रही थी... यदि मेरा बेटा व्लैदिमीर पूरी रात इधर-से-उधर चहलकदमी कर रहा है, तो इसका मतलब है कि वह अपनी प्रेमिका लेनोच्का के बारे में सोच रहा है! हर बार वह यही करता है। यदि वह सारी रात कमरे में चहलकदमी करता है, तो वह सुबह जरूर गायब हो जाता है। ओह, इवान, बुढ़ापे में मैं ईश्वर से केवल यही एक खुशी मांगती हूँ। एक वृद्धा को और क्या चाहिए? मेरी तो केवल एक ही इच्छा है, एक ही खुशी। मुझे तो यह लगता है कि व्लैदिमीर और लेनोच्का की शादी हो जाने के बाद मेरे पास ईश्वर से मांगने के

निकोलाई तेलेशोव

(1867-1957) निकोलाई की पहली कविता 1884 में प्रकाशित हुई थी। 'द डुएल' कहानी के लिए जाने जाते हैं। 1899 में रूस में इन्होंने एक लिटररी सर्किल बनाया था, जिसके सदस्यों में मैक्सिम गोर्की भी शामिल थे।



लिए और कुछ नहीं बचेगा। इनका ब्याह मुझे बेहद खुशनसीब और प्रसन्न बना देगा! व्लैदिमीर के अलावा मुझे और कुछ नहीं चाहिए। उसकी खुशी से अधिक कीमती मेरे लिए और कुछ नहीं।' वृद्धा इतनी भावुक हो गई कि उसे अपनी आंखों में भर आए आंसू पोछने पड़े।

'क्या तुम्हें याद है', उसने बोलना जारी रखा, 'शुरू में बात नहीं बन रही थी- या तो उन दोनों के बीच रुपये-पैसों को लेकर कोई बात थी या कोई और ही वजह थी। तुम जैसे युवा अधिकारियों को बिना उचित पहनावों के शादी की इजाजत भी तो नहीं दी जाती। खैर, अब मैंने सारा बंदोबस्त कर लिया है। व्लैदिमीर की शादी के लिए पांच हजार रूबल्स की जो रकम चाहिए थी, वह मैंने जुटा ली है। और यदि वे चाहें, तो कल ही शादी कर सकते हैं! हाँ, और लेनोच्का ने मुझे इतनी प्यारी चिट्ठी लिखी है। मेरा दिल खुशी से फूला नहीं समा रहा!' बोलते हुए वृद्धा पेलेजिया पेत्रोव्ना ने अपनी जेब में से एक चिट्ठी निकाली और उसे गोल्युबेन्को को दिखा कर उसने वह चिट्ठी वापस अपनी जेब में रख ली।

'वह कितनी प्यारी लड़की है! कितनी अच्छी!' इवान गोल्युबेन्को को वृद्धा की बातें सुन कर लग रहा था जैसे वह जलते हुए अंगारों पर बैठा हुआ है। वह पेलेजिया पेत्रोव्ना को बीच में ही रोकना चाहता था और उसे बताना चाहता था कि, अब सब कुछ खत्म हो गया था, कि अब उसके व्लैदिमीर की मृत्यु हो गई थी, और यह कि कुछ क्षणों में ही उसकी सारी उम्मीदें नष्ट हो जाने वाली थीं- किंतु वह चुपचाप वृद्धा पेत्रोव्ना को बोलते

हुए देखता-सुनता रहा। उसके प्रसन्न चेहरे को देख कर इवान के मन में एक हूक-सी उठी।

'पर आज तुम इतने उदास और बुझे हुए क्यों लग रहे हो?' अंत में वृद्धा ने उससे पूछा, 'तुम्हारा चेहरा रात-सा काला लग रहा है!' इवान ने कहना चाहा, 'हाँ! और जब तुम्हें अपने बेटे की मृत्यु के बारे में पता चलेगा, तो तुम्हारा चेहरा भी ऐसा ही हो जाएगा!' लेकिन वृद्धा को कुछ भी बताने की बजाए उसने अपना चेहरा दूसरी ओर घुमा लिया और अपनी मूँछों को ऐंठने लगा। पेलेजिया पेत्रोव्ना ने इसे नहीं देखा। वह अपने खयालों में पूरी तरह गुम थी। उसने कहना जारी रखा, 'लेनोच्का लिखती है कि मैं इवान को नमस्कार करती हूँ। मैं चाहती हूँ कि वह व्लैदिमीर के साथ मेरे यहाँ आए। तुम तो यह जानते ही हो कि वह तुम्हें कितना पसंद करती है इवान! नहीं, मैं इस पत्र को अपने तक सीमित नहीं रख पाऊँगी। मैं इसे पढ़ कर तुम्हें सुनाती हूँ। देखो, कितना प्यारा पत्र है।'

पेलेजिया पेत्रोव्ना ने दोबारा अपनी जेब से चिट्ठियों का बंडल निकाला। उसमें से एक चिट्ठी अलग की। वह सघन लिखावट वाला पत्र था, जिसे उसने इवान के लिए खोला। इवान का चेहरा और उदास हो गया। उसने अपने हाथ से उस पत्र को दूर हटा देना चाहा, किंतु वृद्धा पेलेजिया पेत्रोव्ना ने उस पत्र को पहले ही पढ़ना शुरू कर दिया, 'प्रिय पेलेजिया पेत्रोव्ना- वह समय कब आएगा जब मैं आपको अभी की तरह नहीं, बल्कि 'मेरी प्रिय माँ' कह कर संबोधित कर पाऊँगी! मैं उस समय की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही हूँ, और मुझे उम्मीद है कि वह समय जल्दी ही आएगा।

दरअसल मैं तो अभी से आपको कुछ और नहीं बल्कि 'माँ' कह कर संबोधित करना चाहती हूँ...' पेलेजिया पेत्रोव्ना ने पढ़ना बंद करके अपना सिर उठाया और इवान की ओर देखा। उसकी आंखों में आंसू झिलमिला रहे थे।

'क्या तुम देख रहे हो, इवान', उसने कहा। लेकिन जब उसने देखा कि इवान दाँत से अपनी मूँछों को काट रहा था और उसकी आंखें भी गीली थीं, तो वह उठी और उसने अपना कांपता हाथ इवान के बालों पर रखा और चुपचाप उसके माथे को चूम लिया, 'शुक्रिया इवान, उसने फुसफुसा कर कहा। वह बेहद विचलित हो गई थी, 'मैं हमेशा यही सोचती थी कि तुम और व्लादिमीर सामान्य मित्रों की बजाए भाइयों जैसे अधिक थे। माफ करना। मैं बेहद खुश हूँ। ईश्वर तेरा शुक्रिया।' उसकी आंखों से आंसू की बूँदें टुलक कर उसके गालों पर आ गई थीं।

इवान गोल्युबेन्को इतना घबराया और चकराया हुआ महसूस कर रहा था कि प्रत्युत्तर में वह वृद्धा पेत्रोव्ना के हड्डियों वाले ठंडे हाथों को ले कर केवल उन्हें चूम भर सका। आंखों से बहते आंसुओं की वजह से उसका गला रुंध गया था और वह एक भी शब्द नहीं बोल पाया, पर मातृत्व से उपजे स्नेह के इस अगाध प्रदर्शन की वजह से इवान ने अपने प्रति एक जबर्दस्त धिक्कार महसूस किया। इस स्थिति से बचने के लिए तो वह स्वयं सिर में गोली खाकर मैदान में मरे पड़े होने को भी तैयार था।

इस वृद्धा से मित्रता के लिए प्रशंसा पाना उसे असहनीय लग रहा था, क्योंकि आधे घंटे के भीतर ही उसे पूरी सच्चाई पता चल जाने वाली थी। तब वह उसके बारे में क्या सोचने वाली थी? एक मित्र, लगभग भाई होते हुए भी क्या वह उस समय चुपचाप नहीं खड़ा था जब व्लादिमीर को एक रिवाल्वर का निशाना बनाया गया था? क्या इस भाई ने ही दोनों प्रतिद्वंद्वियों के बीच की दूरी को नहीं नापा था और उनके रिवाल्वरों में गोलियाँ

नहीं भरी थीं? उसने यह सब कुछ पूरे होशो-हवास में किया था और अब वह मित्र और भाई अपना कर्तव्य निभाने की हिम्मत दिखाने की बजाए वहाँ चुपचाप बैठा था। वह बेहद डरा हुआ था। इस पल उसे खुद से घृणा हो रही थी, किंतु वह इतना विवश महसूस कर रहा था कि एक भी शब्द नहीं बोल पाया। उसकी आत्मा चैन के अभाव में छटपटा रही थी। उसके सीने में घुटन भरी थी। वह बीमार महसूस कर रहा था।

इस बीच समय गुजर रहा था। वह यह बात जानता था, किंतु जितना ज्यादा वह इस बात को जानता था, उसे उतनी ही कम हिम्मत हुई कि वह पेलेजिया पेत्रोव्ना को सच्चाई बता कर उसके कुछ अंतिम खुशनुमा पलों से उसे वंचित कर दे। वह उसे क्या कहे? वह इस त्रासद सूचना के लिए उस वृद्धा को कैसे तैयार करे? इवान का दिमाग फिर गया। उसके पास सभी द्वंद्व युद्धों, सभी लड़ाइयों, सभी तरह की शूरवीरता, और तथाकथित मान-मर्यादा के सभी तरह के प्रश्नों को अभिशापित करने के लिए पर्याप्त समय था। अंत में वह अपनी जगह से उठा, क्योंकि या तो वह उस वृद्धा पेत्रोव्ना को सच्चाई बता देना चाहता था, अन्यथा वह वहाँ से दूर कहीं भाग जाना चाहता था।

चुपचाप जल्दी से उसने पेलेजिया पेत्रोव्ना का हाथ थाम लिया और झुक कर अपने होंठों से उसे छुआ, जिससे उसका चेहरा छिप गया। तभी अचानक उसकी आंखों से आंसुओं की झड़ी लग गई। वह बिना कुछ सोचे जल्दी से दौड़ कर गलियारे में पहुँचा और अपना ओवर-कोट उठा कर बिना कुछ कहे मकान से बाहर निकल गया। पेलेजिया पेत्रोव्ना हैरानी से उसकी ओर देखती रही। उसने सोचा, 'ओह, यह बेचारा भी किसी के प्रेम में दीवाना होगा। खुशी मिलने से पहले इन युवा लोगों को कितना दुख झेलना पड़ता है!' और वह अपने ऐसे सपनों में खो गई, जो पूर्ण थे और जिन्हें भंग नहीं किया जा सकता था।

ए-5001, गौड़ ग्रीन सिटी, वैभव खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ. प्र.)

मो.8512070086

व्याकरण और पितृसत्ता

रवींद्र कुमार पाठक

‘व्याकरण’ के संबंध में आम धारणा है कि वह लिंग, जाति, नस्ल, पंथ (मजहब), क्षेत्र आदि संकीर्णताओं से निरपेक्ष, भाषा का विश्लेषण या विवेचन है, यानी वह एक वैज्ञानिक अवधारणा है। लोकतंत्र का संविधान जिस तरह किसी देश में निवास कर रहे लोगों के जड़-मूल को टटोले बिना सब को एक ही नजरिए से देखता या एक ही कसौटी पर परखता है, उसी तरह व्याकरण से अपेक्षा की जाती है कि वह भाषा में प्रयुक्त पदों या कार्यरत संरचनाओं के साथ वैसी ही एकरूपता का व्यवहार करे, वे किसी भी स्रोत से आए हों; पर व्याकरण इस कसौटी पर पूरी तरह खरा नहीं उतर सका है। बाकी संदर्भों में वह कमोबेश तटस्थ आचरण कर ले, पर उसकी ‘लिंग’ (जेंडर) नामक संकल्पना एक गहरी समस्या है।

दरअसल, विश्व स्तर पर सदियों से विद्यमान पितृसत्तात्मक सामाजिकता की छाया मनुष्य की भाषा पर पड़ी है, जिससे उसमें न सिर्फ लिंग-भेद पैदा हो गया है, बल्कि स्त्रीलिंग पर पुलिंग का वर्चस्व अनेक प्रकार से कायम और कार्यरत दिखता है। लिंग भेदी समाज में रह रहा वैयाकरण भी उन लैंगिक पूर्वग्रहों से अनायास ग्रस्त हो जाता है, फलतः नियम और उदाहरण प्रस्तुत करते समय उसके विवेचन और उदाहरण की भाषा अनायास स्त्री विरोधी हो उठती है। अथवा, उसकी भाषा स्त्री के अस्तित्व या हित पर, उसकी वंचनाओं व पीड़ाओं पर मौन रहती है। जहाँ उसके विवेचन और उदाहरणों को ‘स्त्री सशक्तीकरण’ और ‘लैंगिक न्याय’ की युगीन संकल्पनाओं के प्रति अभिमुख रहने के साथ लोकतंत्र का सतत संवादी होना चाहिए वहाँ वह खुद लिंग-भेद की गहन समस्या की अनदेखी करते हुए और उससे भी आगे बढ़ कर अपने हाथों से भी उसमें कुछ जोड़ रहा होता है। यही वजह है कि व्याकरण और पितृसत्ता जेंडर एंड पैट्रिआर्की इधर चर्चा का एक प्रमुख विषय बना है।

यह स्पष्ट होना चाहिए कि जब तक भाषा में लिंग-भेद बना रहेगा, तब तक व्याकरण के नियमों में भी झलकता रहेगा। यानी, व्याकरण का लिंग-भेदी होना भाषा व भाषिक समाज के लिंग-भेदी होने का परिणाम है। वैयाकरण उसमें अपनी तरफ से कुछ मजबूती ला देते हैं, जब वे भाषा का व्याकरण लिखते हैं (यानी भाषा में अंतर्निहित व्याकरण को विवेचन या पुस्तकीय प्रारूप में मूर्त करते हैं)। इस विसंगति का एक प्रमुख आधार वैयाकरणों की पांत में स्त्री की नगण्यता है। वैसे इक्की-दुक्की स्त्री वैयाकरण होकर भी क्या कर सकती है, जबकि पितृसत्तात्मक सोच सर्वाच्छादी है? वैयाकरण लक्षण या परिभाषा

बनाते और उनके उदाहरण देते समय स्त्री के हीन या दोयम दर्जे पर मुहर भी लगाते चले हैं। हिंदी वैयाकरण किशोरीदास वाजपेयी जब 'आत्मा' के स्त्रीलिंग और 'परमात्मा' के पुलिंग होने का तर्क पेश करते हैं, तो बात खुल कर सामने आ जाती है। वे कहते हैं कि आत्मा तो ईश्वर के अधीन है, स्वतंत्र नहीं है। परमात्मा स्वाधीन है, स्वतंत्र है। स्वतंत्रता की व्यंजना के लिए 'परमात्मा' पुलिंग में तथा पराधीनता के प्रदर्शन के लिए 'आत्मा' स्त्रीलिंग में है। (हिंदी शब्दानुशासन)।

स्त्री और पुरुष को लेकर गुणों या सामाजिक व्यवहार के कोटीकरण की लिंग-भेदी अलोकतांत्रिक मानसिकता व्याकरण जैसे शास्त्र में भी प्रविष्ट हुई है। स्त्री को कमजोर, घरेलू, अबोध, देह-बोध/सौंदर्य से ग्रस्त, खाना पकाती या पतिभक्ति करती आदि रूपों में ही उदाहरण बनाना आम है, जबकि पितृसत्ता की विविध गुलामियों की जकड़बंदी से निकल कर सशक्त हो रही-पढ़ती, खेलती, कुशली करती, गाती, झूमती, नौकरी करती आदि स्त्री भी उदाहरण बनाई जा सकती है।

पुलिंग के सामने स्त्रीलिंग को दोयम दर्जे का मान कर 'लिंग' नामक अवधारणा खड़ी हुई है। किसी भाषा में मुख्यतः रूप-रचना (धातु-रूप यानी क्रिया और क्रियेतर शब्द-रूप की रचना) और गौणतः शब्द-रचना (व्युत्पत्ति) में लिंग की भूमिका प्रभावी रहने से मानना होगा कि उस भाषा में लिंग-भेद है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो हिंदी में लिंग-भेद बहुत मजबूत अवस्था में है। हिंदी भाषा और उसके व्याकरण के पुरुषवादी होने के ढेर सारे संकेत हैं। यहाँ कुछ उदाहरण :

(1) जेंडर के लिए 'लिंग' शब्द का प्रयोग व्याकरण के पुरुषवादी होने का सबसे पहला प्रमाण है। 'लिंग' पुरुष-योनांग है। उसकी जगह 'योनि' शब्द भी इस्तेमाल किया जा सकता था, जिसका अर्थ जीव विज्ञान और सांस्कृतिक अर्थ विज्ञान के लिहाज से दूर तक (जाति-प्रजाति तक) चला जाता है, जबकि 'लिंग' का अर्थ तो चिह्न तक ही सिमट कर रह जाता है।

(2) व्याकरण की 'एकशेष-प्रक्रिया' में आम तौर पर स्त्रीलिंग को पुलिंग में विलीन कर दिया जाता है, पर इसका उलटा प्रायः नहीं होता। जैसे - 'बच्चे खेल रहे हैं' या 'कई आदमी गए' आदि का प्रयोग कर हम मान लेते हैं कि इनमें बच्चियाँ या औरतें भी आ गईं। इस स्थिति में 'बच्चियाँ' या 'औरतें' का प्रयोग कर इनमें बच्चे या आदमी को भी निहित मानने में हम कठिनाई का अनुभव करते हैं। भाषा में कार्यरत यह प्रवृत्ति पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के उस विराट दोष की छाया है, जिसके तहत स्त्री को कहीं जगह नहीं दी गई है। हर जगह 'भाईचारा' शब्द चलता है, लगता है कि बहन रहती ही नहीं दुनिया में। इसी तरह अंग्रेजी में Man (आदमी) शब्द को 'इन्सान' का वाचक मान लिया जाता है और मानव-जाति/मानवता या मानवीय शक्ति से संबद्ध व्यापकार्थक बहुत सारे शब्द Man से ही सिद्ध किए जाते हैं, न कि Woman शब्द से (वैसे Woman के भी मूल में कहीं न कहीं Man ही निहित है)। जैसे Mankind (मानवता), Manpower (मानव-शक्ति), Mandate (अधिदेश), Manfully (साहसपूर्वक), Manual (नियमावली), Manner (तौर-तरीका), Manmade (कृत्रिम), Manor (हवेली), Manufacture (उत्पादन या गढ़ना) आदि। इसी तरह, 'आदमी' से 'आदमीयत' शब्द बना है, पर मजा यह है कि यह गुण औरतों के भीतर भी अपेक्षित समझा जाता है। हिंदी में 'अध्यक्ष' और 'अध्यक्षा' दोनों के कर्म को 'अध्यक्षता' ही कहते हैं। जैसे- महादेवी वर्मा ने सभा की अध्यक्षता की। सवाल है, 'अध्यक्षाता' क्यों नहीं?

(3) हिंदी भाषा में जहाँ लिंग की अनिश्चितता होती है, वहाँ केवल पुलिंग का प्रयोग होता है। जैसे- कौन गया? वह कौन था? इसकी जगह यदि 'कौन गई? वह कौन थी?' आदि का प्रयोग कर दें, तब लिंग की अनिश्चितता नहीं रह जाती। इतना स्पष्ट हुआ रहता है कि जाने वाली या वह स्त्री है और सवाल केवल इसलिए पूछा जा रहा है ताकि यह पता चले कि जाने वाली या उस स्त्री की



रवींद्र कुमार पाठक

युवा भाषाविद। पुस्तकें : 'हिंदी व्याकरण के नवीन क्षितिज', 'समांतर दृष्टि की राह'।

पहचान क्या है?

(4) जहाँ कहीं लिंग-विशेष जान कर भी उसे प्रकट करना जरूरी न समझा जाए, वहाँ पुलिंग का ही प्रयोग किया जाता है। किसी पुरुष को ही नहीं, किसी स्त्री को भी देख कर कहा जा सकता है - कोई आ रहा है।

(5) वाच्य प्रकरण में जहाँ क्रिया कर्ता या कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाती है (यानी किसी वाच्य के भावप्रयोग में), वहाँ हिंदी में पुलिंग-एकवचन क्रिया होती है। जैसे- रमेश ने खाया। रजनी ने खाया। रमेश ने साथियों को पुकारा। रजनी ने सहेलियों को पुकारा। यहाँ अब बैठा जाएगा।

(6) अव्यय और क्रिया के विशेषण भी हिंदी व्याकरण में पुलिंग में सिद्ध माने गए हैं। जैसे- 'राम अच्छा करता है। सीता अच्छा करती है।' करने वाला चाहे स्त्री हो या पुरुष, पर अच्छा ही करेगा, न कि कभी अच्छी करेगा। यही तो पुलिंगवाद है।

(7) सभी क्रियार्थक भाववाचक संज्ञाएँ हिंदी में पुलिंग होती हैं। जैसे- पढ़ना अच्छा लगेगा। क्रियार्थक संज्ञा की रचना भी 'ना' पुंप्रत्यय से होती है, न कि 'नी' स्त्रीप्रत्यय से। ये पढ़ना, जाना आदि रूपों में ही होती हैं, न कि पढ़नी, जानी आदि।

(8) समास में भी पुलिंग की विजय-यात्रा जारी है। जैसे- द्वंद्व समास बनाने में घटक रूप में भले स्त्रीलिंग पद की भी भूमिका हो, परंतु समस्त पद पुलिंग में ही सिद्ध होता है। उदाहरणस्वरूप, राजा-रानी आए।

(9) ऊनवाचक यानी छोटे या हीन अर्थ में किसी संज्ञा को ढालने के लिए उसे स्त्रीलिंग रूप में सिद्ध कर देना भी स्त्रीलिंग की हीनता का परिचायक है। जैसे- डिब्बा से डिबिया।

स्त्रीलिंग शब्दों की हीनता या गौणता शब्दों की व्युत्पत्ति वाले प्रकरण में खुल कर प्रकट होती है। इस क्षेत्र में 'लिंग' जबर्दस्त भूमिका निभाता है। व्युत्पत्ति-प्रकरण में कुछ खास प्रत्यय (जिन्हें 'स्त्री प्रत्यय' कहा जाता है) हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी सहित कई भाषाओं में हैं, जो पुलिंग शब्द में लग कर स्त्रीलिंग शब्द व्युत्पन्न करते हैं। जैसे लड़का+ ई = लड़की, बाल+आ = बाला, Hero+ein = Heroein। पुलिंग को मूल यानी प्राथमिक और स्त्रीलिंग को उससे व्युत्पन्न यानी द्वितीयक ठहराने वाली भाषा की यह प्रवृत्ति स्त्रीलिंग को पुलिंग के सामने कमतर या हीन मानने के सामाजिक दोष की छाया है। यह लोक में चल रही शब्द-निर्माण-प्रक्रिया की व्याकरण द्वारा निर्दोष व्याख्या मात्र नहीं है, क्योंकि शब्द-रचना को मूल और स्त्रीलिंग को व्युत्पन्न (गौण) बताने का दोष तो व्याकरण ने ही अपने सिर पर लिया है। वह चाहे अपनी सीमा की कितनी भी सफाई दे, 'मूल शब्द (प्रकृति) अ प्रत्यय' की कल्पना का ढंग थोड़ा-बहुत वह बदल ही सकता था, जिससे स्त्रीलिंग शब्दों को द्वितीयक या व्युत्पन्न मानने की रूढ़ि टूटे। व्याकरण समझाता है कि 'लड़का' शब्द में 'ई' प्रत्यय लगने से 'लड़की' शब्द बना है। वह चाहता तो 'लड़का' व 'लड़की' दोनों को मूल शब्द मान सकता था अथवा 'द्विमुखी' व्युत्पत्ति प्रक्रिया की कल्पना कर उसके तहत 'लड़का' से 'लड़की' और 'लड़की' से 'लड़का' को व्युत्पन्न प्रतिपादित कर सकता था। अगर ऐसा करना ऐतिहासिक न लगे, तो भी पुलिंग की दादागिरी समाप्त करने के लिए यह व्यवस्था देना उचित है।

आखिर व्याकरण या उसकी व्युत्पत्ति की व्यवस्था पूर्णतः ऐतिहासिक सत्यों पर आधारित कहाँ होती

है? यह व्याख्या की संगति या सुविधा के लिए बहुधा कल्पना पर आधारित होती है। ऐतिहासिक रूप से देखने पर हिंदी के 'बहनोई' शब्द को संस्कृत शब्द 'भगिनीपति' का विकास कहा जा सकता है, किंतु अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने अपने व्याकरण (हिंदी कौमुदी) में उसे 'बहनओई' से व्युत्पन्न माना और इसमें लगे 'ओई' को हिंदी का पुलिंग-प्रत्यय या पुंप्रत्यय कहा। पुंप्रत्यय की अवधारणा उनकी मौलिक खोज है, जो व्याकरण के लिए एक उपलब्धि है। अंग्रेजी में भी एक-दो व्युत्पत्तियाँ इस तरह की मिल जाती हैं, जैसे Widow+er = Widower, पर आम तौर पर व्याकरण में स्त्री-प्रत्यय की प्रतिष्ठा है, यानी वहाँ पुलिंग की प्राथमिकता का विकल्प नहीं सोचा गया।

हमारे या हमारे वैयाकरणों के मस्तिष्क में लिंगगत पूर्वग्रह इस कदर हावी रहा है कि अक्सर यह बात भुला दी गई है कि परस्पर पुलिंग-स्त्रीलिंग के रूप में चर्चित बहुत से शब्द-युग्म एकदम स्वतंत्र शब्द होते हैं। जैसे- पिता-माता, पति-पत्नी, Father-Mother, Boy-Girl आदि। यहाँ ध्वनि-परिवर्तन के किसी ऐसे नियम का संधान नहीं किया जा सकता, जो 'पिता' शब्द से 'माता' को सिद्ध कर सके (जैसे कि 'लड़का' में 'ई' लग कर 'लड़की' के बनने की बात कही गई)। इस प्रकार किसी ऐसे प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती, जो 'पिता' शब्द में लग कर 'माता' की व्युत्पत्ति कर सके। ('माता' से 'पिता' की व्युत्पत्ति दिखलाने की कोशिश तो वैयाकरण का लिंग-पूर्वग्रही मन करेगा ही नहीं)।

पाणिनि ने 'पति' से 'पत्नी' की व्युत्पत्ति सिद्ध करने की जो व्याख्या की है, वह उनकी विवशता हो सकती है, वास्तविकता नहीं है। 'पत्युर्नो यज्ञ-संयोगे' (अष्टाध्यायी, 4.1.13), अर्थात् पति के यज्ञ कार्य में सहयोग प्रदान करने से (पति+डीप्/नुक्) 'पत्नी' की व्युत्पत्ति स्त्री की निम्नतर सामाजिक अवस्था की छाया है। स्त्री का पत्नीत्व उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की समाप्ति और पति नामक मर्द-विशेष के सुख-कल्याण साधन में उसके विलीनीकरण का पर्याय बना रहा है। यह त्रासद सच ही पाणिनि को

'पति' से 'पत्नी' शब्द की इस प्रकार से उत्पत्ति सिद्ध करने को विवश कर सका।

पाणिनीय व्युत्पत्ति की छाया में महाभाष्यकार द्वारा यह वितर्क उठाया गया कि जब शूद्र को यज्ञादिक का अधिकार ही नहीं, तब शूद्र पुरुष की ब्याहता को उसकी पत्नी कैसे कहा जा सकता है? इस पर खुद उन्होंने समाधान दिया कि उपमान या लक्षणा से उसे भी 'पत्नी' कहा जा सकता है। यानी, यज्ञ कार्य में सहयोग का लक्ष्यार्थ 'सहयोग' लेकर शूद्र पुरुष की ब्याहता को भी 'पत्नी' कहा जा सकता है। यह वितर्क व समाधान इस तथ्य का संकेतक है कि वैयाकरण के सोच में किस तरह जेंडर के साथ जाति-वर्ण संबंधी पूर्वग्रह भी कार्य करते रहते हैं। इन सब पचड़ों में पड़ने की जगह यदि 'पति' व 'पत्नी' जैसे शब्द-युग्म को 'आदमी' व 'घोड़ा' जैसे अलग-अलग स्वतंत्र शब्द मान कर चला जाता तो क्या गड़बड़ी होती? पुलिंग की सत्ता कमजोर होती? जिस तरह 'भैया' से 'भाभी' नहीं सिद्ध किया जा सकता, उसी तरह 'पति' से 'पत्नी' नहीं।

लिंगगत व्युत्पत्ति में केवल ऐतिहासिकता की दुहाई देना ठीक नहीं है। उसमें कुछ व्यावहारिकताओं का खयाल रखना चाहिए। जो स्त्री-रिश्ते पूर्वसिद्ध हैं यानी हमारे सामाजिक बोध में पहले आते हैं (जैसे- फूफी, मौसी, बहन, जीजी, ननद आदि) उनमें ही पुंप्रत्यय लगा कर उनसे लिंगगत व्युत्पत्ति (फूफा, मौसा, बहनोई, जीजा, ननदोई आदि) सिद्ध करना ठीक है। आम तौर पर जो इनसे उलटा तरीका अपनाते हैं, यानी 'मौसी' आदि शब्दों को ही 'मौसा' आदि से व्युत्पन्न दिखलाते हैं, वह अवैज्ञानिक है। 'चाचा' से 'चाची' को व्युत्पन्न मानने की व्यवस्था इसलिए वैज्ञानिक है, क्योंकि 'चाचा' पूर्वसिद्ध है, 'चाची' उत्तरसिद्ध। किंतु 'लड़का' और 'लड़की', 'राजकुमार' और 'राजकुमारी' अथवा 'पति' व 'पत्नी' में से कोई न पूर्वसिद्ध है, न उत्तरसिद्ध। दोनों सहसिद्ध हैं। भले ऐतिहासिकता कुछ भी कहे, परंतु 'लड़की+आ = लड़का' व्युत्पत्ति करना उतना ही समीचीन है।

दोनों सहसिद्ध हैं, तो प्रथम से द्वितीय की व्युत्पत्ति बतलाना कैसा? ऐसा व्युत्पत्तिशास्त्र स्पष्टतः पितृसत्ता की गिरफ्त में माना जा रहा है। दोनों को या तो स्वतंत्र मानिए या दोनों को परस्पर व्युत्पन्न मानिए (द्विमुखी व्युत्पत्ति प्रक्रिया से)।

जहाँ तक रहा 'माता/माँ' और 'पिता/बाप' का सवाल, इनमें जो वैज्ञानिक दृष्टि और सामाजिक बोध के क्रम में (बच्चे के लिए) माँ का अस्तित्व प्राथमिक है और पिता का परवर्ती, वह भी माँ से उसके रिश्ते के संदर्भ में है। इसलिए, आश्चर्य नहीं कि अफ्रीका की कुछ जंगली जातियों में 'पिता' को केवल एक कारण माना जाता है, माँ को मुख्य। पिता बच्चे के लिए उसकी माँ के पति के रूप में आंशिक महत्व रखता है, पर पितृसत्ता के विकास ने यह सब उलट कर रख दिया। माँ को पिता द्वारा दिए गए तथाकथित बीज (जबकि असल में बीज का अर्धांश) के लिए महज एक प्राकृतिक संदर्भ या विकास-परिवेश भर माना जाने लगा। वह बच्चे की 'जननी' और उसके प्रधान पहचान-आधार की जगह उसके लिए 'बाप की बीवी' भर मानी जाने लगी। जैसे-जैसे पितृसत्तात्मक समाज आकार लेता गया, स्त्री दोयम दर्जे की होती गई। उसकी मुख्य पहचान पुरुष की वंश-परंपरा को जारी रखने वाली मशीन और पुरुष के कार्य में सहायक एवं उसके मनोरंजन और भोग का सामान बनने वाली हो कर रह गई। इसका प्रभाव उसके लिए वाचक शब्दों के विकास और उनके लिए निर्धारित की गई व्युत्पत्तियों पर भी पड़ा।

कई धर्म भाव ऐसे होते हैं, जो प्राकृतिक तौर पर पुरुष या स्त्री में से किसी एक में ही होते हैं। ऐसी अवस्था में स्पष्ट है कि उनका लिंग परिवर्तन नहीं हो सकता, जैसे- गर्भवती, रजस्वला, गाभिन, स्तनधरा आदि का पुल्लिंग नहीं हो सकता, परंतु 'केशवती', 'सुकेशा', 'सुमुखी' आदि में निहित गुण स्त्री-मात्र के नहीं हैं, अतः इनके पुल्लिंग होंगे। कामता प्रसाद गुरु ने हिंदी व्याकरण के 'शब्द-

साधन' नामक खंड में लिंग विवेचन के प्रसंग में कुछ ऐसी ही बात कही, पर उनका प्रतिपादन यह है कि कुछ अर्थ केवल स्त्रियों में संभव हों, उनके सूचक स्त्रीलिंग शब्दों के पुल्लिंग जोड़े संभव नहीं हो सकते। वे सती, गाभिन, सौत, धाय आदि के उदाहरण देते हैं। गुरु जी यहाँ प्राकृतिक धर्म (जैसे गर्भधारण) की ही पांत में पितृसत्तात्मक संरचना द्वारा थोपे गए बोझों (धाय, सौत, सती) को बैठा देते हैं। अब सोचा जाए कि क्या 'धाय' की भूमिका सिर्फ स्त्री निभा सकती है? इस शब्द का पुल्लिंग न होना स्त्री के साथ अन्याय है, लेकिन इस पर कामता प्रसाद गुरु जैसे मौलिक चिंतक ने भी मुहर लगा दी। सांस्कृतिक भेदभाव के तहत कुछ धर्म/भाव यदि स्त्री/पुरुष पर आरोपित कर दिए गए हों, तो उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उनका लिंगांतरण नहीं हो सकता। जैसे- सती, विधवा, सधवा आदि। यदि 'सधवा' का पुल्लिंग नहीं है, तो भी कारण वही है। जरूरत नहीं पड़ी शब्द बनाने की; क्यों? क्या इसलिए कि पुरुष के लिए पत्नी का होना कोई विशेष मायने न रखता होगा, जिससे 'पत्नीवान पुरुष' के लिए कोई शब्द बने। 'सती' का पुल्लिंग नहीं है (इसके आधार-रूप में सती को स्त्रियों का धर्म बताया जाता है)। इसका कारण समाज (या व्युत्पत्तिकार) की लिंग-भेदी, स्त्री-विरोधी मानसिकता है। इससे भी अधिक अन्याय कुछ हो सकता है कि स्त्री के धर्म के रूप में सतीत्व को उपस्थित किया जाए?

उपर्युक्त रूपों में हिंदी व्याकरण में 'लिंग' नामक जो अवधारणा प्रतिष्ठित है, वह व्याकरण जैसे (वस्तुनिष्ठता का दावा करने वाले) शास्त्र में कई बिंदुओं पर स्त्री और पुरुष के बीच भेदभाव पर आधारित है। व्याकरण का पुरुषवादी होना भले मूलतः भाषा (व भाषिक समाज) के पुरुषवादी होने का कुपरिणाम हो, पर जैसा कि हमने पीछे देखा, गौणतः वह कई बार वैयाकरणों की पुरुषवादी मानसिकता का भी कुफल है।

एसोसिएट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया-823001,

मो.9801091682

समकालीन कविता : परंपराएँ और चुनौतियाँ

संजय राय

कविता अन्य कलाओं से एक अलग कला माध्यम है। यह विशुद्ध कला नहीं है। कविता की कला के साथ जब सामाजिक दायित्वबोध जुड़ता है, तो कविता अन्य कलाओं से थोड़ा अलग हो जाती है। ऐसा नहीं है कि अन्य कलाओं में सामाजिकता नहीं होती, पर शब्दों से जुड़े होने के कारण कविता अपने कहन में सामाजिक मूल्यों को स्वभावतः अपनाती है। हिंदी कविता की अब तक की यात्रा कविता में सामाजिक मूल्यों और सामाजिक दायित्वबोध के सघन होते जाने की यात्रा है।

जब समकालीन कविता की बात होती है, तो पहला सवाल उसकी शुरुआत को लेकर खड़ा होता है। '60 के बाद की कविता को पूर्ववर्ती कविता से अलगाने के लिए 'समकालीन' शब्द का प्रयोग हुआ था। '60 के बाद पैदा हुए मोहभंग को समकालीनता के प्रस्थान बिंदु के रूप में स्वीकार करने की एक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

रघुवीर सहाय लिखते हैं, 'मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है।' (लिखने का कारण, 1978) स्पष्ट है कि समकालीनता सिर्फ वर्तमान नहीं होती, उसके बनने में अतीत की चेतना और भविष्य के स्वप्न भी शामिल हैं। वस्तुतः समकालीनता समय के सर्वाधिक नएपन को उसकी संपूर्ण जटिलता में पकड़ने की कोशिश है। समकालीनता यह काम तभी कर सकती है जब उसमें ऐतिहासिक चेतना, द्वंद्वत्मक विश्वदृष्टि, संपूर्ण परंपरा से जुड़ाव और भविष्य के लिए एक बड़ा स्वप्न हो।

इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक जार्जियो एगमबेन समकालीनता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, 'समकालीनता किसी व्यक्ति का अपने समय के साथ ऐसा अनोखा संबंध है, जिसमें व्यक्ति अपने समय के मुताबिक चलता भी है, साथ ही उससे एक निश्चित दूरी भी बनाए रखता है।' (ह्याट इज एन ऐपरेटस एंड अदर एसेज, 2009) इस प्रकार कहा जा सकता है कि समकालीनता एक द्वंद्वत्मक अवधारणा है, इसलिए एक गतिशील अवधारणा भी है। वास्तव में समकालीनता समय के साथ एक

गतिशील संबंध बनाती हुई चलती है। एगामबेन समकालीन को परिभाषित करते हुए आगे लिखते हैं, 'समकालीन सिर्फ वही नहीं है जो वर्तमान के संकटों का अनुभव करता है और उन बिखरे प्रकाशपुंजों को समझता है जो अपनी मंजिल तक कभी नहीं पहुँच सकते; बल्कि समकालीन वह है, जो समय को विभाजित करने और केंद्र में रखने की प्रक्रियाओं को अंजाम देते हुए उसे रूपांतरित करने में सक्षम होता है और दूसरे समयों के साथ उसे जोड़ता भी है।' (वही) इस उक्ति में समकालीन होने की तीन शर्तें उभर कर सामने आती हैं। पहली शर्त है अपने समय और उसके संकटों से द्रुदात्मक रूप से जुड़ा होना। दूसरी शर्त है समय का विश्लेषण कर उसे रूपांतरित करने में सक्षम होना और तीसरी शर्त है दूसरे समयों के साथ उसे जोड़ने में सक्षम होना। इन तीनों शर्तों पर खरा उतरने वाला व्यक्ति ही समकालीन हो सकता है। वही रचना समकालीन हो सकती है, जो इन तीनों शर्तों पर खरी उतरे।

राजेश जोशी 1990 के आस-पास के समय को समकालीनता की शुरुआत की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकार करते हुए समाजवादी महास्वप्न के विघटन, शीत युद्ध की समाप्ति, विश्व समाज के मोनोपोलर होने, अमरीकी साम्राज्यवाद के अत्यधिक शक्तिशाली होने की बात को इसके साथ जोड़ कर देखते हैं। वे वैश्विक स्तर पर इन ऐतिहासिक घटनाओं को समकालीनता की हदों के रूप में देखते हैं। साथ ही 1975 के आपातकाल का जिक्र करते हुए इसे भी समकालीनता के प्रस्थान बिंदु के रूप में मानने की वकालत करते हैं। (समकालीनता और साहित्य, 2010) समकालीनता के प्रस्थान बिंदु को लेकर काफी बहसें हैं। देश और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर क्रमशः आपातकाल और सोवियत संघ के विघटन तथा भारत में वैश्वीकरण की व्यावहारिक शुरुआत जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं को समकालीनता के प्रस्थान बिंदु के रूप में स्वीकार करना ज्यादा तर्कसंगत है, क्योंकि हमारी समकालीनता देश

और विश्व की इन घटनाओं से टकराती हुई बनती है।

एक ही तरह के लगने वाले समसामयिक, तात्कालिक और समकालीन शब्द वास्तव में एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। सामान्यतः समकालीन और समसामयिक शब्द एक ही अर्थ रखते हैं। अंग्रेजी का 'कंटेपररी' शब्द लगभग यही अर्थ रखता है। एक ही समय में दो उपस्थितियाँ आपस में समसामयिक अथवा समकालीन होती हैं। इस हिसाब से प्रेमचंद, प्रसाद और रामचंद्र शुक्ल आपस में समसामयिक अथवा समकालीन कहलाएंगे।

इधर 'समकालीन' शब्द ने अपना अर्थ विस्तार किया और अपने समय की चुनौतियों से टकराते हुए ऐतिहासिक चेतना ग्रहण की। ए. अरविंदाक्षन ने इस फर्क को स्पष्ट करते हुए लिखा है, 'जब समकालीनता तात्कालिकता को तोड़ती है, तो काल चेतना का अर्थ स्तर विस्तृत और गहरा होने लगता है।' (समकालीन हिंदी कविता, 1998) तात्कालिक असल में निरपेक्ष वर्तमान है। निपट वर्तमान और उससे चिपका हुआ सबसे करीबी अतीत तात्कालिक होता है। तात्कालिकता में क्षणबोध होता है, भावुकता होती है और इसका संबंध पत्रकारिता से जुड़ता है। समकालीनता में एक ऐतिहासिक चेतना होती है और यह चेतना वह अपने युग की चुनौतियों से द्रुदात्मक संबंध स्थापित करते हुए अर्जित करती है। विजय कुमार समकालीनता को समझने की एक दिशा देते हुए लिखते हैं, 'किसी भी युग की समकालीनता को हम उस युग के संकटों को परिभाषित करते हुए समझ सकते हैं।' (कविता के पते-ठिकाने, 2015), अर्थात् समकालीनता का मतलब है अपने युग के संकटों की पहचान करना और मानवीय अस्तित्व की युगानुरूप नई जटिलताओं के साथ टकराते हुए अपनी ऐतिहासिक चेतना विकसित करना। स्पष्ट है कि समकालीनता में यथार्थ तो होता है साथ ही यथार्थ के बोध को पाने की एक बेचैनी भी होती है। यह बोध सामान्यतः परंपरा से जुड़ कर ही पाया जा सकता है।



संजय राय

युवा कवि और आलोचक। एक पुस्तक 'कुँवर नारायण
का कविता-लोक' प्रकाशित।

कविता में समकालीनता की पहचान करनी हो तो हमें देखना होता है कि वह अपने समय की चुनौतियों से किस तरह टकराती है। अरुण कमल लिखते हैं, 'एक श्रेष्ठ रचना उन तत्वों को पकड़ती है, जो सर्वाधिक नए और इसलिए अनूठे हैं। जो रचना जितनी तीव्रता और जितने विस्तार से इस नएपन को व्यक्त करती है, वह उतनी ही श्रेष्ठ होती है और उतनी ही अधिक समकालीन।' (गोलमेज, 2009) इस प्रकार किसी रचना की श्रेष्ठता का पैमाना उसकी समकालीनता होती है। वस्तुतः हर युग की अपनी समकालीनता होती है। आज समकालीनता क्या है इसकी पड़ताल करते हुए अरुण कमल कहते हैं, 'आज समकालीनता का अर्थ है पूंजी, बाजार, स्वार्थ और अमानवीयकरण के विरुद्ध जाग्रत होना। आज मनुष्य बेहद अकेला होता जा रहा है। यह ऐसा अकेलापन है, जिसमें एकांत नहीं है। उसकी निजता, स्वायत्तता और स्वाधीनता का उल्लंघन हो रहा है। सामूहिकता में ही वास्तविक एकांत है। आज कविता उसी सामूहिकता, उसी एकांत की खोज है।' (कविता और समय, 2002) स्पष्ट है कि किसी रचना की समकालीनता अपने समय की बड़ी समस्याओं के विरुद्ध एक प्रतिपक्ष है। अगर कविता या कोई भी रचना अपने समय की चुनौतियों से टकराते हुए प्रतिपक्ष तलाश करती है, तभी समकालीन हो सकती है।

कविता की संवेदना सामान्य जनजीवन की संवेदना को एक खास तरीके से कविता के लिए उपयोग में लाती है। कविता उसमें काट-छांट, तराश और एक निश्चित दिशा की ओर मोड़ कर उसका उपयोग

करती है। कविता उस पर जरूरी रंदा चलाती है और विषयवस्तु के अनुसार उसमें काट-छांट करती हुई उसका उपयोग करती है। अतः सामान्य जनजीवन की खांटी संवेदना का काव्यात्मक रूपांतरण ही काव्यात्मक संवेदना है। कविता में कवि आभ्यांतरीकृत अथवा ग्रहण की गई संवेदना का काव्यात्मक रूपांतरण करता है। इस रूपांतरण की प्रक्रिया में वह अपने विचार, अनुभव और भावों को कविता की विषयवस्तु के निश्चित सांचे में सृजनात्मक रूप से ढालता है। यह हुआ कवि पक्ष। एक और पक्ष है- पाठक अथवा श्रोता का पक्ष। सामान्य संवेदना जब काव्यात्मक संवेदना में ढल रही होती है, तो कवि सर्वथा इस बात का ध्यान रखता है कि यह काव्यात्मक संवेदना पाठक तक निर्विरोध पहुँचे। यह संप्रेषण की प्रक्रिया होती है, जो उसे पाठक तक पहुँचाती है। इस प्रकार काव्यात्मक संप्रेषण का असल में पाठक की आंतरिक दुनिया में काव्यात्मक रूपांतरण है। कविता सिर्फ भावुकता की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। ज्ञान के साथ मिल कर उसे काव्यात्मक संवेदना का एक सुचिंतित संसार गढ़ना होता है, ताकि इस संवेदनहीन संसार में संवेदना और मनुष्यता को बचाया जा सके।

पिछले दिनों विकास की काफी चर्चा होती रही है। इस विकास को आलोचनात्मक ढंग से समझने की जरूरत है। विकास जन सामान्य को मिलने वाली ऐसी सुविधाओं का समुच्चय है, जिससे उसका जीवन सहज हो सके। यानी उसका संबंध जीवन समग्र से है। इन दिनों विकास के नाम पर बाजार की नई चीजें मिल रही हैं, इसके पीछे एक चेहरा लूट की राजनीति का है। पेप्सी पिला कर

पहाड़ के पहाड़ लूट लिए जा रहे हैं। खनिज संपदाओं पर कब्जा कर लिया जा रहा है। विकास के तमाम शोर के बावजूद एक व्यक्ति अपनी पत्नी का शव लेकर 12 किलोमीटर तक पैदल चलने को विवश होता है। एक आदमी के फेसबुक पर हजारों मित्र होते हैं, लेकिन उसका शव कई दिनों तक उसके कमरे में पड़ा रहता है। ऐसी घटनाएँ और ऐसी शोषण-व्यवस्थाएँ देख कर स्पष्ट हो जाता है कि हमारे समय और समाज की संवेदना में कितनी गिरावट आई है। अगर कहा जाए कि यह युग घोर संवेदनहीनता का युग है, तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसे समय में कविता करने का मतलब दरअसल संवेदनहीनता का एक प्रतिपक्ष रचना भी होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है, 'ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएंगे, त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जाएगा।' (रामचंद्र शुक्ल संचयन, 1988) इस संवेदनहीन समय में अपने समय की समस्याओं से टकराने का कविता के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं बचा है। कविता संवेदनहीनता के बरक्स एक संवेदनात्मक संसार रचती है। इसी में काव्यात्मक संवेदना की सार्थकता है।

काव्य भाषा में स्वकेंद्रीयता होती है। रूपवादियों का मानना है कि काव्य या साहित्य का बाहरी जीवन जगत से कोई संबंध नहीं होता। इसलिए उसकी भाषा बाहरी जीवन जगत से जुड़े सामान्य अर्थ नहीं व्यक्त करती। सामान्य भाषा हमारे जीवन संदर्भों से जुड़ी होती है। अतः उसका अर्थ भी हमारे लिए परिचित होता है। रूपवादी मानते हैं कि काव्य या साहित्य चूंकि बाहरी जीवन जगत से नहीं जुड़ा होता और सामान्य अर्थ भी नहीं देता, इसलिए इसकी भाषा सामान्य भाषा से अलग होती है। दोनों जगह पर भाषा की सामग्री एक ही रहती है, अर्थ के स्तर पर अंतर हो जाता है। भाषा का अर्थ के स्तर पर भिन्न हो जाने की इस प्रक्रिया को अपिचिचितकरण (डिफैमिलियराइजेशन) कहा

जाता है। सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा की सामग्री एक होने के बावजूद जो विशेषता सामान्य भाषा प्रयोग को साहित्यिक भाषा प्रयोग से अलगती है, रूपवादी उसे 'साहित्यिकता' के रूप में व्याख्यायित करते हैं।

समकालीन कविता रूपवादी आग्रहों से मुक्त कविता है। हालांकि इसका अर्थ साहित्यिकता का विरोध नहीं है। समकालीन कवि अंतर्वस्तु को मुख्य मानते हैं। वे इस बात से सर्वथा भिन्न हैं कि कविता अंततः एक कला है, इसलिए वे कविता की भाषा और कला को लेकर काफी सचेत नजर आते हैं। उनका दृष्टिकोण काव्य-भाषा को लेकर बहुत साफ है। वे मानते हैं कि काव्य-भाषा सामाजिक संदर्भों से जुड़ कर ही सार्थक हो सकती है। यह सचेतनता समकालीन कविता को रूपवाद के विरोध में खड़ा करती है।

सामान्यतः समकालीन कविता को उसके विरोधी तेवर के कारण उसे परंपरा के सभी तत्वों का विरोधी बता देने की हड़बड़ी दिखती है, पर ऐसा है नहीं। इस पर विचार करते हुए पंकज चतुर्वेदी ने लिखा है, 'समकालीन कविता निराला, प्रगतिशील काव्य-आंदोलन, नक्सलबाड़ी, रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह की कविता-प्रमुख रूप से इन पांच दिशाओं और आयामों में अपनी रचनात्मक सक्रियता के घेरे बनाती और विस्तृत करती है।' (http://www.anunad.com/2012/07/blog-post_05.html) इस परंपरा में प्रगतिवादी कविता ने भी स्वयं को पुनराविष्कृत किया। नंदकिशोर नवल अपनी किताब 'समकालीन काव्य-यात्रा' में विजयदेव नारायण साही, कुँवर नारायण, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, राजकमल चौधरी और धूमिल इन आठ कवियों के नाम लेते हैं, 'ये वे कवि हैं, जिन्होंने वाकई समकालीन हिंदी कविता का परिदृश्य निर्मित किया है और जिनकी काव्य-यात्रा में समकालीन हिंदी कविता के विकास को लक्षित किया जा सकता है।' (समकालीन काव्य-यात्रा, 2004) एक तरह से नई कविता के उत्तरार्ध में

आए कवियों में समकालीनता को विकसित होते हुए देखा जा सकता है।

दूरअसल नई कविता के उत्तरार्ध से ही इसकी मान्यताओं को लेकर एक बेचैनी शुरू हो गई थी। इन चार महत्वपूर्ण कवियों- रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, कुँवर नारायण और केदारनाथ सिंह को समकालीन कविता के अग्रज के रूप में देखा जा सकता है। रघुवीर सहाय के अलावा बाकी तीनों कवि तीसरा सप्तक के हैं। रघुवीर सहाय को मिला कर ये चारों कवि ऐसे हैं जिनमें नई कविता की विशेषताओं से जुड़ने का आग्रह और उसके अतिक्रमण का द्वंद्व उभर कर आता है। इसी द्वंद्व से प्रेरित होकर इन कवियों ने नई कविता के रोमांटिसिज्म को एक स्तर पर तोड़ा और वे आगे बढ़ गए। यही वह जगह है जहाँ से समकालीन कविता की पृष्ठभूमि भी तैयार होती है।

नई कविता के बाद के संक्रमण काल में एक तरफ अकविता का आंदोलन है, तो दूसरी तरफ नक्सलवादी कविता का आक्रामक तेवर है। इन दोनों तत्वों की संयुक्त अभिव्यक्ति धूमिल का काव्य है। समकालीन कविता का एक महत्वपूर्ण पड़ाव धूमिल हैं। इनके काव्य में आपातकाल के पहले और बाद का सामाजिक चरित्र उभर कर आता है। धूमिल के बाद के कवि भी व्यंग्य और विडंबना से भरी राजनीतिक-चेतना से अपनी तरह से टकराते हैं। समकालीन कविता की परंपरा ने इस तेवर को अपनी तरह से आत्मसात किया और किसी हड़बड़ी के बजाय एक वैचारिकी में घोल कर प्रस्तुत किया। समकालीन कविता ने आंतरिकता, आत्मसजगता और विश्लेषणात्मक विवेक का कविता में उपयोग किया है। यही वे तत्व हैं जो इसे अकविता और नक्सलवादी कविता दोनों से अलगाते हैं। समकालीन कविता की राजनीतिक चेतना इनकी तरह उग्र और मुखर नहीं

है, बल्कि इसमें चिंतन, चेतना और अनुभूति का समन्वय है। दूसरे, समकालीन कविता कहीं भी साहित्यिकता से विमुख नहीं होती।

हमारे जीवन और समकालीन कविता में यह घोर संकट की घड़ी है। वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाजारवाद और उपभोक्ता संस्कृति के कारण यह संकट सिर्फ श्रमिकों के जीवन पर ही नहीं, सामान्य जीवन पर भी गहराया है। एक तरफ पूंजी और विकास का खेल है, तो दूसरी तरफ दरिद्रता का तमाशा। वैश्वीकरण का असर पर्यावरण पर भी है। यह नए आर्थिक-संकट से भी जुड़ा हुआ है। देखने की जरूरत है कि हिंदी की समकालीन कविता विभिन्न दौर में अपने समय के इन संकट की पहचान किस रूप में करती है। यह संकट किसी स्थान विशेष या किसी देश का संकट नहीं है, बल्कि विश्व संकट है। इसे देखने का समकालीन कविता का नजरिया क्या है स्थानीय या वैश्विक, यह प्रश्न हमारे लिए महत्वपूर्ण है।

समकालीन कविता का हिंदी समाज जितना अपना है उतना ही नया वैश्विक परिवेश भी अपना है। इस तरह आज की समकालीन कविता अपने परिदृश्य का विस्तार करती है और समग्र मानवीय तत्वों के साथ सामने आती है। इसकी संवेदना सामाजिक-राजनीतिक समीकरणों और नई चुनौतियों से टकरा कर बनती है। यह विडंबनापूर्ण परिस्थितियों का जिक्र भर नहीं करती; बल्कि उनके कारणों की भी तलाश करती है। देश और दुनिया में इधर तमाम तरह के बदलाव हो रहे हैं। '90 के बाद उसमें तेजी आई है। ये बदलाव छल भी पैदा कर रहे हैं। चेहरा दिखाते हैं मानव कल्याण का, मगर गहराई से देखने पर पता चलता है कि यह स्वार्थ के निमित्त है। आज की कविता इस छल, छद्म और धूर्तता से टकराती है।

ग्राम-पोस्ट : चाँदुआ, षष्ठी क्लब, जोड़ा पुर के नजदीक, चँरापाड़ा
(उत्तर) 24 परगना-743145 (प.बं.) मो.9331629249

पँखुड़ी-पँखुड़ी प्रेम

(उपन्यास : भाग - दस)

एकांत श्रीवास्तव

‘यात्राएँ खत्म होकर भी कहीं खत्म नहीं होतीं। ज़िन्दगी भी इन्हीं यात्राओं की तरह है। जिसे हम गंतव्य समझते हैं; दरअसल वह कोई मोड़ होता है। गंतव्य दरअसल कहीं नहीं होता। वह फूल की पँखुड़ियों की तरह इन्हीं रास्तों और मोड़ों पर बिखरा होता है। मंज़िल पर पहुँचकर कभी-कभी हमें लगता है कि ये वो जगह तो नहीं, जहाँ हम आना चाहते थे। तो क्या यात्राएँ ही स्वयं अपना गंतव्य नहीं हैं?’

प्रेम छुप कर कुंज की डायरी पढ़ रही है। उसने पन्ना पलटा। एक जगह कुंज ने लिखा है- ‘कविता जीवन नहीं है, लेकिन जीवन अवश्य कविता है। इसके शब्दों में हमारा खून बह रहा है। इसके वाक्यों में हमारी आत्मा की महक है।’

प्रेम ने पुनः पन्ना पलटा- ‘जीवन यदि यात्रा है तो इसमें फूल कम, काँटे ज़्यादा हैं। फूल दूर से दिखाई देते हैं मगर काँटे हमारे रास्तों में धूल के नीचे छुपे होते हैं। हम पाँव में गड़ा हुआ काँटा निकालने के लिए झुकते हैं तो कोई हमसे पहले झुक कर हमारे पाँवों का काँटा निकाल देता है। कौन है यह दूसरा? क्या वह प्रेम है?’

तभी कुंज ने कमरे में प्रवेश किया। प्रेम ने डायरी जल्दी से बंद की और उसे अपने पीछे छुपा लिया। कुंज ने देख लिया-

‘तो छुप-छुप कर हमारी डायरी पढ़ी जा रही है।’

कुंज का चेहरा गम्भीर देख कर प्रेम ने सहम कर अपराधी की तरह ‘हाँ’ में सिर हिलाया। कुंज मुस्कराने लगा-

‘तो पढ़ो। इसमें छुपाने की क्या बात है?’

‘अच्छा!’- प्रेम आश्वस्त हुई- ‘आपको एतराज नहीं? मैं तो डर गई थी।’

‘इसमें छुपाने लायक कुछ नहीं है’- कुंज हँसा।

‘लेकिन कितनी गहरी बातें हैं जैसे किसी ज्ञान-वृद्ध ने लिखी हों। देखने में तो आप बड़े भोले और सीधे दिखते हैं।’

‘अच्छा!’- कुंज ने चुटकी ली- ‘तो आज से तुम मुझे ज्ञान-वृद्ध ही समझो। मुझे कोई आपत्ति नहीं।’

प्रेम हँसी-‘समझना ही पड़ेगा महाराज! डायरी तो आपकी पढ़ ली। कविता पढ़ने-सुनने का मौका कब मिलेगा?’

‘वह तो सब ऐसे ही है। कागज़ काला करता रहता हूँ। मन-संतोष। स्वान्तः सुखाय, जो बाबा तुलसी दास ने लिखा है।’

‘रहने दीजिए। मैं जानती हूँ; वे अच्छी ही होंगी; जब डायरी ऐसी है। अब भला अपनी तारीफ़ भी

कोई करता है जो आप बताएँगे, लेकिन मुझे कभी कविता की डायरी दीजिएगा न!’ प्रेम ने इस्सर किया।

‘अरे, जब चाहे पढ़ लेना’- कुंज हँस कर बोला- ‘सब यहीं है, कोई ताला-चाबी तो लगा नहीं रखा।’

‘और बाँसुरी? वह कब सुनने को मिलेगी?’

‘बाँसुरी तो मैं बजाता ही रहता हूँ- यूँ ही शौकिया।’

‘कब से बजाते हैं?’

‘बचपन से’

‘किससे सीखी? क्या खुद ही अभ्यास से?’

‘नहीं। कलाम चाचा से।’

‘कलाम चाचा?’

‘तुम नहीं जानती उन्हें अभी’- कुंज बाजवट में बैठ गया- ‘बैठो, बताता हूँ।’

प्रेम भी बाजवट के दूसरे किनारे पर बैठ गई और उत्सुकता से कुंज के बोलने की प्रतीक्षा करने लगी।

‘बच्चों के लिए वे कलाम चाचा थे और बड़ों के लिए सूफी, पीर, फकीर से कम नहीं थे। वे अब बुजुर्ग हो गए थे। उनकी दाढ़ी पटसन की तरह सफ़ेद थी। वे हरी लुंगी पहनते थे, सूती और साटन का हरा कुर्ता। सिर पर एक बड़ा सा हरा रूमाल बाँधे रहते। वे चप्पल नहीं पहनते थे। नंगे पैरों गाँव-गाँव, गली-गली एकतारा बजाते घूमते रहते। गले और भुजाओं में ताबीज बाँधे रहते। कलाई में काला धागा। कमर में लाल सूती गमछा जिसमें उनकी बाँसुरी खुँसी रहती। एकतारा बजाते थक जाते तो बाँसुरी बजाने लगते। कंधे पर छोटी सफ़ेद चदरिया जैसी कपड़े की झोलीनुमा गठरी गाँठ बाँध कर टाँगे रहते। इस गठरी में उनकी चलती-फिरती गृहस्थी का थोड़ा-बहुत सामान रहता। और रहती आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियाँ अर्थात् औषधियाँ। गाँव वालों के लिए वे फकीर के साथ-साथ वैद्य भी थे, बल्कि वैद्य अधिक थे। लोगों को कोई तकलीफ होती, तो उनके आने की प्रतीक्षा की जाती या किसी गाँव में उनके होने की खबर मिलती तो लोग वहाँ पहुँच जाते। पर इतनी जड़ी-बूटियाँ तो गठरी में होती नहीं, जब वे खत्म हो जातीं, तो वे घरेलू उपचार बताते और लोगों को, जन समाज को स्वास्थ्य की दृष्टि से जागरूक और दीक्षित करते चलते। वे दिन में तीन बार नमाज पढ़ते। इसके लिए वे गठरी से एक लम्बा पंछा (गमछा) निकाल कर ज़मीन पर बिछाते।

फिर झुक कर नमाज पढ़ते। लोग उनके नमाज खत्म होने की प्रतीक्षा करते। वे जीवन और समाज की समस्याओं के समाधान के लिए लोगों को अपनी सलाह भी देते, जो लोक-कल्याणकारी ही होती थी, लेकिन पूछने पर ही। अन्यथा प्रायः वे मौन रहते। लोग अपनी घरेलू समस्याओं के समाधान तक बाबा से पूछते। कलाम चाचा का जन प्रसिद्ध नाम बाबा ही था- ‘बाबा आ गए...’

‘बाबा चले गए...’

‘बाबा अभी अमुक गाँव में हैं...’

‘बाबा अभी नमाज़ पढ़ रहे हैं...’

‘सब बाबा की कृपा है...’

‘लेकिन बाबा अन्याय के पक्ष में कभी नहीं बोलते। झूठ और अत्याचार और अनीति का पक्ष कभी नहीं लेते। इनका विरोध करते; मगर संयत और शालीन भाषा में, पर उनके शालीन और संयत वाक्य भी विष-बुझे तीर की तरह लगते और असर करते। ऐसे लोग प्रायः बाबा से बचते, उनसे दूर रहते। उनकी जड़ी-बूटियों के अलावा उनके द्वारा बताई गई घरेलू औषधियाँ भी अचूक उपचार करतीं।

‘दमा की दवा वो बताते- सुहागा का फूल और मुलहठी का अलग-अलग खरल कर या कूट -पीस कर छान लें और बारीक चूर्ण बना लें। फिर इन दोनों औषधियों को बराबर वजन में मिला कर किसी शीशी में सुरक्षित रख लें। बस श्वाँस, खाँसी, जुकाम, अस्थमा की सफल दवा तैयार है। और सेवन विधि- साधारण मात्रा आधा ग्राम से एक ग्राम तक चूर्ण शहद के साथ लें। शहद न होने पर गर्म जल के साथ भी लिया जा सकता है।

‘दाँतों को स्वस्थ रखने और हर प्रकार के रोगों से बचाने के लिए वे कहते- सेंधा नमक बारीक पीस कर छान लें और प्रतिदिन दो ग्राम नमक में उससे चार गुना सरसों का तेल डाल कर इससे मसूड़ों और दाँतों की मालिश धीरे-धीरे ऐसे करें जैसे मंजन करते हैं। इसके बाद कुनकुने पानी से कुल्ला कर लें। इससे पायरिया और मसूड़ों से खून बहना जैसी बीमारियाँ ठीक हो जाती हैं।

‘बाबा नाक फूटने या पुरानी नकसीर बीमारी में एक औषधि को संजीवनी बताते और वह यह कि - बीस ग्राम मुल्लतानी मिट्टी को ज़रा कूट कर रात्रि के

समय मिट्टी के बर्तन में पाव लीटर पानी में डाल कर भिगो दें। प्रातः पानी को निथार कर छान लें। इस साफ पानी को बच्चों को आधी मात्रा में दो-तीन दिन पिलाने से वर्षों का पुराना रोग सदा के लिए समूल नष्ट हो जाता है। बच्चों को यह पानी बताशा या मिश्री मिला कर भी पिलाया जा सकता है।

‘बाबा उषा-पान का सुझाव देते और इसके लाभ बताते। वे कहते- सायं काल तांबे के एक बर्तन में पानी भर कर रख लें। प्रातः सूर्योदय से पूर्व उषा-पान के रूप में उस बासी पानी को आठ अंजलि (250 ग्राम की मात्रा में) नित्य बासी मुँह धीरे-धीरे पिएँ और फिर कम से कम सौ कदम टहलें। इससे कब्ज दूर होता है। अर्श, उदर रोग, यकृत-प्लीहा के रोग, कुष्ठ, सिर-दर्द, नेत्र-विकार तथा वात-पित्त-कफ से होने वाले अनेकानेक रोगों से छुटकारा मिलता है। वार्धक्य पास नहीं फटकता और व्यक्ति शतायु रहता है।

‘इस प्रकार बाबा दवा कम देते, लोगों को सेहत के बारे में दीक्षित-शिक्षित अधिक करते; ताकि व्यक्ति अपना वैद्य स्वयं बन सके और अपने बच्चों तथा परिजनों को भी प्रशिक्षित कर सके। उनके घरेलू उपचार की सूची बहुत लम्बी थी, जिन्हें वे लोगों की ज़रूरत के मुताबिक बताया करते थे। इस प्रकार कलाम चाचा या बाबा जन-कल्याण का बड़ा काम कर रहे थे। उनका गाँव-समाज में बहुत मान और आदर था। वे सूफी या फकीर नहीं थे, लेकिन लोगों ने उन्हें सूफी बना दिया था। बच्चे उनकी बाँसुरी के दीवाने थे। उन्हें खाने-पीने की व्यवस्था के लिए कभी परेशान नहीं होना पड़ता। जिस भी गाँव के चौपाल में रुकते, उनका सादा खाना पहुँच जाता किसी भी घर से। वे तेल-मसाला वाला चटपटा भोजन नहीं करते। उन्हें खिलाने के लिए लोगों में होड़ लगी रहती कि पिछली बार तुमने खिलाया था; इस बार बाबा का भोजन हमारे यहाँ से जाएगा। वे दिन में बस एक समय दोपहर को भोजन करते थे। रात में कोई फल, कंद-मूल या प्रायः पानी पीकर सोना पसंद करते। दोपहर के भोजन के बाद वे मात्र आधे घण्टे की झपकी लेते थे। गाँव में तालाब के किनारे पीपल या नीम की छाया उनके ठहरने की प्रिय जगह होती थी। बारिश होने पर वे गाँव के मंदिर में या

किसी घर के ओसारे में ठहर जाया करते थे। उनकी ज़रूरतें, इच्छाएँ और सपने बहुत कम थे। उनका सपना बस एक ही था कि गाँव में लोग सुख-शान्ति से रहें। उनका दैन्य, शोषण व अन्याय समाप्त हो। आपसी कलह समाप्त हो। वे प्रेम, शान्ति, सहकारिता और बंधुत्व-बहनापा का संदेश देते। उनकी स्नेहिल और सजल आँखें सबको ममत्व से देखती थीं।

‘बाबा अमीरों के घर का भोजन और आश्रय स्वीकार नहीं करते थे। चंदिया में बाबू गिरधारी लाल की हवेली के वे करीब भी नहीं फटकते। बाबू गिरधारी लाल के अनेक आमंत्रणों को वे यह कह कर ठुकरा चुके थे कि- मैं तो फकीर हूँ, हवेलियों में मेरा क्या काम। हवेली द्वारा भिजवाई गई भेंट-सामग्री और भोजन भी वे विनम्रतापूर्वक लौटा देते थे। उस ज़माने में एक दीवान और ज़मींदार की हवेली की ऐसी अवमानना करना साहस नहीं, बल्कि दुस्साहस की बात थी, लेकिन हवेलियाँ तो फकीरों से भय खाती थीं- उनकी दुआओं के इंतज़ार में उनकी बहुआओं की आशंका से खौफ़जदा रहती थीं। उनके नाराज होने का प्रश्न ही क्या; बल्कि कलाम बाबा जैसे फकीर ही हवेलियों को जन-कल्याण के काम करने के लिए नैतिक रूप से विवश भी करते थे। इस तरह बाबा के कारण समाज में एक नैतिक अनुशासन था।

एक बार कुंज के लिए हुए गुड़ियों को कलाम चाचा ने यह कहकर लौटा दिया था कि ‘बेटा, हवेलियों की हम कोई चीज़ नहीं खाते हैं। तुम बस ऐसे ही आ जाया करो। कुछ लाया न करो।’

‘क्यों?’ - बालक कुंज की सहज जिज्ञासा थी।

बाबा कुछ देर मौन रहे। फिर बोले क्योंकि बोलना जरूरी था। यह जानते हुए भी कि बालक कुंज का संवेदनशील हृदय आहत होगा; उन्होंने कहा - ‘हवेलियाँ ईंट-पत्थर और गारे से नहीं बनतीं। वे लोगों के खून और हड्डियों से, उनकी माँस-मज्जा से बनती हैं। मेरे लिए वहाँ का जल भी वर्जित है क्योंकि वहाँ के पानी से भी खून की गंध आती है।’

कुंज अवाक्! हतप्रभ! चकित! दुखी! घाव गहरा था। वह कई दिनों तक इस सदमें से नहीं उबर सका। बल्कि बाबा की इस बात ने उसका जीवन ही बदल कर रख दिया। (जारी)

48/18/सी, साउथ सिथी रोड, कोलकाता-700050 मो.9433135365

कहानी में समय का सच शिव कुमार यादव

आज जिन कहानीकारों की रचनाएँ अपने समय की प्रकृति-विरोधी और जन-विरोधी व्यवस्था से टकराते हुए लिखी जा रही हैं उनमें एक प्रमुख नाम सत्यनारायण पटेल है। इनके तीसरे कहानी-संग्रह 'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' है जिसमें छह कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ आज के मनुष्य के जीवन संघर्ष, उसके नए-नए ढंग से शोषण और उसकी असहायता की करुण दास्तान हैं। ये मनुष्य के क्रूर तथा निर्मम बनते चले जाने के खिलाफ मनुष्यता का महाआख्यान रचती हैं, जिसमें पशुवत होते मनुष्य की उन हिंसक अदाओं की शिनाख्त की जा सकती है जो धर्म के नाम पर संपूर्ण कौम को जला कर राख कर देने का माद्दा रखती हैं।

हम ऐसे क्रूर समय में जी रहे हैं जब व्यक्ति जितना अपने दुख से परेशान नहीं है, उससे कहीं ज्यादा दूसरे के सुख से परेशान है। ईर्ष्या और छल-कपट मनुष्य को घेरते जा रहे हैं। 'घट्टी वाली माई की पुलिया' कहानी ऐसे अमानवीय मूल्यों का प्रतिकार करते हुए

जिज्ञासा : 'काफिर, बिजूका उर्फ इब्लीस' इन तीनों में आप किसे मानवता के लिए उपयोगी मानते हैं और किसे खतरनाक और क्यों?

लेखक : देखिए, समाज में तीन तरह के लोग पाए जाते हैं। एक वे होते हैं जो तर्कशील समझ एवं आधुनिकता से सराबोर होते हैं। वे किसी धर्म, ईश्वर, जाति और संप्रदाय को नहीं मानते हैं। उन्हें समाज काफिर (नास्तिक) कहता है। एक वे होते हैं जो बिल्कुल तटस्थ होते हैं, जिन्हें मध्यमार्गी कहते हैं। तीसरे वे लोग होते हैं जो कट्टर धार्मिक एवं पोंगापंथी होते हैं, जो धर्म की आंच पर ही अपनी रोटी सेंकते हैं। उन्हें इब्लीस (शैतानों का सरदार) कहते हैं। यही वे लोग हैं जो मानवता के लिए सबसे ज्यादा खतरनाक होते हैं, क्योंकि ये धर्म, ईश्वर, अध्यात्म, अल्लाह, मंदिर-मस्जिद के नाम पर मनुष्य का शोषण करते रहते हैं तथा समाज को बांटने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। काफिर और बिजूका मानवता के लिए उपयोगी हैं, क्योंकि ये मनुष्य का न तो शोषण करते हैं न दमन। मनुष्य-मनुष्य की तरह जी सकें, इसके प्रति उनकी पक्षधरता होती है।



सत्यनारायण पटेल

एक ऐसी पुलिया बनाने की जद्दोजहद को सामने लाती है, जिससे होकर मनुष्य समता और बंधुत्व के उर्वर प्रदेश में पहुँच सके। यह प्रकृति दोहन के अनेक अनछुए पहलुओं को उजागर करती है। कहानी की नैरेटर मनकामना का अपने घर में हुई चोरी की शिकायत को राजा तक पहुँचाना कुछ उसी तरह महंगा पड़ा जैसे आज सत्ता के खिलाफ जरा सा भी कुछ बोलने को देशद्रोह माना जाता है। राजा के मंत्रियों के दल ने मनकामना को झूठा साबित किया और उसे हड़काते हुए कहा, 'भविष्य में शिकायत करने आई तो राजद्रोह के मामले में फांसी पर लटकवा देंगे। अभी हिदायत देकर छोड़ रहे हैं... आगे ऐसी गलती मत करना।' यह कहानी निरंकुशता पर प्रतिघात करती है तथा अभिव्यक्ति की आजादी का पक्ष लेती है।

'एक था चिका एक थी चिकी' कहानी में कहानीकार ने नर-मादा पक्षियों चिका व चिकी के प्रेम के माध्यम से आज के आधुनिक स्त्री-पुरुष के प्रेम के मनोविज्ञान को उद्घाटित किया है। इसमें मध्यवर्गीय स्त्री अपने पति के नागपाश में फंसी हुई, उड़ने के लिए फड़फड़ा रही है पर कुछ कर नहीं सकती क्योंकि वह उस पुरुष की पत्नी है। 'ठग' में दो ठगों का एक-दूसरे को ठगना तथा बाद में मिल कर तीसरे को ठगने की साजिश करना और तीसरे का उन दोनों के साथ कइयों को ठगने का काम आज के समाज की शिनाख्त करता है। सत्यनारायण पटेल इस कहानी के माध्यम से कहते हैं, 'राजा बदला/राज करने का ढंग बदला/व्यापार में भी बहुत कुछ अदला-बदला। पर नहीं बदला तरक्की का रास्ता कभी। दिन सौ गुनी रात हजार गुनी तरक्की होने लगी/हो रही है। और जाने कब तक तरक्की का पहिया यूँ ही देश की गर्दन पर से गुजरता रहेगा?' इस प्रकार यह कहानी एक तरफ उत्तर-आधुनिक ठगों (व्यापारियों) के चरित्र को उद्घाटित करती नई विकास-पद्धति पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती है तो दूसरी तरफ कबीर के लोक और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की पक्षधरता भी करती है, ताकि मनुष्यता

के साथ जीवनदायिनी प्रकृति और पृथ्वी भी बची रहें।

'काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस' के केंद्र में धर्म की चक्की में पिसती हुई स्त्री है। यह उसी तरह कई खंडों में बंटी है, जिस तरह आज का आधुनिक मानव बँटा हुआ है। यह बढ़ते अंधेरे का आख्यान है।

यह देखना दिलचस्प है कि सत्यनारायण पटेल की कहानियाँ मात्र पढ़ने के लिए नहीं, नागरिक दायित्वों के आलोक में अपनी भूमिका को जांचने-परखने के लिए भी हैं कि हम इब्लीसों की जमात से कितने अलग हैं।

किरण सिंह का कहानी-संग्रह 'यीशू की कीलें' में एक तरफ दरबार का राग है तो दूसरी तरफ सांप्रदायिकता की ज्वाला। एक तरफ राजनीति के शिकंजे में फंसी स्त्री का जिस्म है तो दूसरी तरफ राजनीति के दोगलेपन की गहरी हनक। इसमें तार-तार होती मनुष्यता के कारुणिक दृश्य हैं। इसमें स्त्री विमर्श पैर दबा-दबा कर नहीं आता, न ही वह संकुचित है। भाषा की देशजता, पर चरित्रों की जटिलता कहानियों को महत्वपूर्ण बनाती है। किरण सिंह की कहानियाँ समाज में व्याप्त अनेक ग्रंथियों, सिलवटों एवं उलझनों को खोल कर मनुष्य को उन्मुक्त बनाने का प्रबल आख्यान हैं। एक कहानी में कई कहानियों के बीज समाहित हैं। कहानी में राजनीति के छल-छद्म, धार्मिक संकीर्णता, जातिवादी अहंकार, पितृसत्तात्मक व्यवस्था के छल-छद्म एवं तार-तार होती मनुष्यता के सार सभी कैसे समाहित हो सकते हैं, यह 'यीशू की कीलें' पढ़ कर समझा जा सकता है। वे 'राजनीति में औरत के सिर्फ दो नाम होते हैं- रंडी या चंडी' तथा 'चुहिया मोटाएगी तो हाथी नहीं हो जाएगी, औरतों की फिकर छोड़ो' जैसे वाक्य रख कर पितृसत्तात्मक व्यवस्था में निहित स्त्री-दमन की प्रवृत्तियों को उद्घाटित करती हैं तो 'ये साले खाते हैं हिंदुस्तान की, गाते हैं पाकिस्तान की' जैसे वाक्यों से कलुषित राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक उन्माद एवं धार्मिक संकीर्णता के चित्र अंकित करती हैं।

इस संग्रह की कहानी 'द्रौपदी की पीक' एक पर्वतारोही दल द्वारा एवरेस्ट, जिसे स्थानीय भाषा में 'दौपदी पीक' कहते हैं, के फतह करने के हर्षोल्लास की कथा है, लेकिन यह मुख्यतः स्त्री का अपनी अस्मत् और अस्मिता के साथ अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं को छूने की कथा भी है।

'संज्ञा' थर्ड जेंडर पर केंद्रित कहानी है। यह तृतीयलिंगी के उपेक्षित होने के बावजूद उसके साहस और जिजीविषा का परिचय देती है। समाज उसे आदर के साथ देखने लगता है।

आशुतोष के संग्रह 'उम्र पैंतालीस बतलाई गई थी' की कहानियों को पढ़ कर कहा जा सकता है कि ये समाज के ज्वलंत प्रश्नों को उठाती हैं। ये जीवन की उन मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का प्रतिकार करती हैं जो मनुष्य को टूल्स की तरह यूज करने के लिए प्रेरित करती हैं। कहानियाँ सामाजिक धमनियों में बहते उस गंदे खून की शिनाख्त करती हैं जो जाति, धर्म, संप्रदाय, वर्ग, वर्ण, ऊंच-नीच के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद पैदा करता है। यहाँ एक तरफ 'जूठन' के चुहड़े का दर्द है तो दूसरी तरफ आज के उन कुटिल मत्सरी वृत्तियों वाले स्वयंभू मनुवादी आचार्यों की द्रोणाचार्यी दास्तान है जो निम्न जातियों के प्रखर एवं प्रतिभाशाली और ओजस्वी छात्रों का अंगूठा लेकर उच्च कुल एवं जाति के विवेकहीनों को प्रतिभाशाली घोषित करते हैं। आशुतोष की कहानियाँ उन समस्त वृत्तियों का प्रतिकार करती हैं जो मनुष्यता के मानचित्र पर काले धब्बे की तरह हैं। इनमें सत्ता, पूंजी और मीडिया की ताकतों से नाभि-नाल बढ़ होकर जनता को रौंदने के करुण दृश्य हैं तो दूसरी तरफ कुंठित, रूढ़िवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में उलझी हुई स्त्री की मार्मिक कथा भी है।

आज कुटिल द्रोणाचार्यों की शिक्षा निम्न जातियों के एकलव्यों के साथ कैसा व्यवहार कर रही है, इसका प्रतीकधर्मी रचाव- 'उम्र पैंतालीस बतलाई गई थी' में है। इसमें कथाकार ने दलित को दलित बनाए रखने की साजिशों का पर्दाफाश किया है।

जिज्ञासा : 'यीशू की कीलें' एक राजनीतिक कहानी है। यह कहानी आपने कैसे लिखी ?

लेखिका : कहानीकार यदि स्त्री है तो उसके बारे में यह भ्रम पाल लिया जाता है कि उसकी कहानियों का विषय घर-परिवार, बाल-बच्चे, फूल-पत्ती इत्यादि होगा। स्त्री रचनाकार यदि राजनीति, धर्म या पूंजीवाद को आधार बना कर कहानी लिख रही है तो चार मूर्ख दारू गोष्ठियों में कह देंगे, 'पता लगाओ इस कहानी के पीछे किस आदमी का दिमाग है।' यह



किरण सिंह

पितृसत्ता की कुंठा है कि पुरुष स्त्री को देह में डिग्रेड करता है। उसकी सृजन-प्रतिभा से भय खाते हुए उसे दिमाग मानने को वह जल्दी तैयार नहीं होता। अपने विरुद्ध हो रही हर किस्म की राजनीति की काट के लिए स्त्री को अपने लेखन में समाज की राजनीति को लाना चाहिए और सक्रिय राजनीति में बढ़-चढ़ कर भाग भी लेना चाहिए। हर जगह स्त्री को मौजूद रहना चाहिए जहाँ वह निर्णय लेने वालों में एक बने। वह आंदोलनों की अगुवाई करे और अपने निर्णयों को लागू करने की क्षमता हासिल करे। लेखन और आंदोलन में शामिल हुई 'नई स्त्री' से उम्मीद बढ़ी है। 'यीशू की कीलें' कहानी लिखने के पीछे विधान सभा चुनावों के दौरान कई महीने की पद-यात्रा, गलियों की खाक छानने का लंबा अनुभव, कल्पना और विचार का तालमेल है। मुझे लगता है कि यह मेरे जीवन की सबसे कठिन कहानी है। हालांकि तैयारी के लिए नए क्षेत्रों में जाने का भी अपना एक अलग रोमांच होता है। हमारा एक सामूहिक नाम 'मनुष्य' है। जन्म लेते ही जो पहली राजनीति होती है वह यह कि हमसे हमारी सामूहिकता छीन कर स्त्री और पुरुष दो खेमों में बांट कर अलग कर दिया जाता है। मैं अपनी कहानियों को स्त्री या पुरुष की नहीं, इन्सान की कहानियाँ बनाना चाहती हूँ।

जिज्ञासा : आपकी कहानियों में मध्ययुगीन भावबोध का गहरा प्रतिकार दिखाई देता है, क्या आज हमारा समाज मध्ययुगीन भावबोध की तरफ बढ़ रहा है ?

लेखक : साहित्य का यह दायित्व है कि वह मध्ययुगीन भावबोध, मध्ययुगीन मानसिकता का गहरा प्रतिकार प्रस्तुत करे, क्योंकि मध्ययुगीन भावबोध का आधार नियति, भाग्य, धर्म, जाति और अंधी आस्था रहे हैं। आधुनिक भावबोध मनुष्यता, तार्किकता और लोकतांत्रिक चेतना की भूमि पर कार्य करता है। आप मेरी कहानियों में मध्ययुगीन भावबोध का गहरा प्रतिकार देखते हैं, किंतु यह मैंने सायास नहीं किया है। मैं जो कुछ भी लिखता, कहता हूँ, उसकी कसौटी सिर्फ और सिर्फ आधुनिक मनुष्यता है। उसी मनुष्यता की देन हैं- तार्किकता और लोकतांत्रिक चेतना। इसी मनुष्यता, तार्किकता और लोकतांत्रिक चेतना से मध्ययुगीन भावबोध का गहरा प्रतिकार संभव हुआ होगा।



आशुतोष

आज हमारा समाज मध्ययुगीन भावबोध की तरफ बढ़ रहा है या नहीं, इसका जवाब मैं 'हाँ' या 'ना' में नहीं दे सकता। इसमें साधारणीकरण का खतरा रहेगा। मेरी समझ से समाज का विकास एकरेखीय नहीं होता है, जिससे हम आसानी से कह सकें कि समाज यहाँ से वहाँ, इस दिशा से उस दिशा की ओर बढ़ रहा है। सच यह है कि हर समय में कई समय, हर समाज में कई समाज रहते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण मौजूद हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि एक ही समय में एक साथ हमारा समाज आस्थावादी और तार्किक, रूढ़िवादी और प्रगतिशील, आस्तिक और नास्तिक तथा मध्यकालीन भावबोध और आधुनिक भावबोध वाला रहता आया है। मध्यकाल के संत कवि कबीर आदि बहुत से मामलों में प्रखर आधुनिक भावबोध वाले थे, और आज कितने ही तथाकथित बाबा-महंतों का सोच और कार्य मध्यकालीन भावबोध से भरा पड़ा है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' को याद करते हुए, कहना चाहता हूँ कि नाखून तो हर समय बढ़ता ही रहता है, उसे बढ़ाते रहना मध्यकालीन भावबोध है और काटते रहना आधुनिकता। इसलिए मैं समझता हूँ कि मध्यकालीन भावबोध और आधुनिक भावबोध ये दोनों प्रवृत्तियाँ हर समय समाज के अस्तित्व में विद्यमान रहती हैं।

जिज्ञासा : द्रोणाचार्य आचार्यों तथा पहले के द्रोणाचार्य में क्या अंतर है ?

लेखक : चेहरे बदल गए हैं, प्रारूप बदल गया है, पद्धति बदल गई है, किंतु द्रोणाचार्यपन की हिंसा वही है। द्रोणाचार्य ऐसे शिक्षक थे जिन्होंने पहले-पहल शिक्षा की व्याप्ति को संकुचित कर 'प्राइवेट ट्यूशन' शुरू किया। इसमें शिक्षा-ग्रहण करने का आधार कुल, वर्ण और धन था। आज कुरुरमुत्ते की तरह उगे द्रोणाचार्यों के प्रयत्न से 'प्राइवेट ट्यूशन', 'कोचिंग क्लास' की शक्ति में व्याधि की तरह फैल कर सफलता तथा प्रतिष्ठा का मानक बन गया है। आज के द्रोणाचार्यों के लिए जाति और कुल के प्रश्न थोड़े गौण हो गए हैं, पैसा प्रमुख हो गया है, किंतु धन भी तो कुछ कुलों-जातियों तक अब भी सिमटा हुआ है। दूसरी बात, उस समय द्रोणाचार्य ने अपने कृत्य को राजसत्ता द्वारा पोषित नैतिकता की आड़ में न्यायोचित ठहरा दिया था। आज के द्रोणाचार्य अपनी हिंसा को संविधान के राज में किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं ठहरा पा रहे हैं। आज द्रोणाचार्यों की हिंसा सूक्ष्म हो गई है।

आजादी के सत्तर साल बाद भी आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता सहित अनेकानेक वादों एवं विमर्शों के बावजूद हम कितने स्वतंत्र एवं समान हुए हैं, इस कहानी से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है।

आशुतोष की कहानी 'उनके पर जानें और यह आसमाँ जाने' छात्र राजनीति से लेकर राष्ट्रीय राजनीति के हाड़-मांस में विन्यस्त छल-छद्म, अमानवीयता, अवसरवादिता, सत्ता लोलुपता व क्षुद्रताओं को उद्घाटित करती है। अभिजीत कहता

है, 'टीका, तुम चुनाव इसीलिए हारे कि तुम अच्छे आदमी थे'। यह इस विडंबना की ओर संकेत है कि जनता उचित-अनुचित का फर्क करने में अब असमर्थ होती जा रही है।

'यह ठइयाँ नथिया हेरानी' कहानी की नैरेटर बेला बुआ का चरित्र प्रेमचंद की कहानी 'बड़े घर की बेटी' के समीप दिखाई पड़ता है, जो अपने परिवार को संवारने के लिए अपने आपको न्यौछावर कर देती है। यह कहानी आज के उस पारिवारिक जीवन के विघटन की कहानी है जिसमें प्रेम को एक बड़ा कुकृत्य माना जाता है। बेला बुआ तथा राजेंद्र को अपने प्रेम विवाह की कीमत चुकानी पड़ती है। 'अग्नि असनान' में कथाकार ने पारिवारिक विघटन से लेकर धार्मिक कर्मकांड, सामाजिक रूढ़िवादिता, सत्ता तथा मीडिया की जुगलबंदी, स्त्री शोषण के साथ-साथ समाज के रेशे-रेशे में विन्यस्त अमानवीयता के दृश्य रखे हैं, जो पाठक को सोचने पर मजबूर कर देते हैं। 'घड़े का दुख' कहानी कार्यालयी धीमे कार्य व्यापार, जीवन शैली और तौर-तरीकों पर लिखी गई एक व्यंग्यात्मक कहानी है।

हिंदी कहानी के प्रारंभिक दौर में प्रेमचंद, प्रसाद, निराला आदि ने जैसे लोकाख्यानों, ग्रामीण अंचलों और कस्बाई परिवेश की संस्कृति को अपने कथा-साहित्य में उद्घाटित किया था, उनकी प्रतिध्वनि इस कहानी-संग्रह में है। आशुतोष की कहानियाँ उनके जीवनानुभव की चासनी में पगी हुई समकालीन जीवन की पुनर्चना हैं।

मनोज कुमार पांडेय के कहानी-संग्रह 'खजाना' में आठ कहानियाँ 'चोरी', 'टीस', 'मदीना', 'खजाना', 'कष्ट', 'अशुभ', 'घंटा' और 'मोह' हैं। ये आज के अवसरवादी, बाजारू संस्कृति में उन मानवीय मूल्यों की खोज हैं जो हमारी सामाजिक जड़ों में मौजूद रही हैं। ये वर्तमान समय की सत्ता, व्यवस्था तथा रोबोटिक होते मनुष्य के छल-छद्म पर प्रहार करती हैं। ये 'मुख में राम बगल में छूरी' की नीति को भी उद्घाटित करती हैं। इनमें एक ओर राजतंत्र और धर्मतंत्र के बीच पिसते लोकतंत्र

जिज्ञासा : खजाना तथा सुरंग से क्या अभिप्राय है? क्या 'खजाना' कहानी आपके वास्तविक जीवन पर आधारित है?

लेखक : कहानी में खजाना बिना मेहनत किए हर तरह का ऐश्वर्य हासिल करने की इच्छा का प्रतीक है। खजाने का एक बिंब यह भी है कि यह हमें आगे देखने के बजाय पीछे की तरफ देखने को विवश करता है। यह एक तरह से अतीतग्रस्तता का पता देता है। सुरंग वह गलत और अनैतिक रास्ता है जिससे यह खजाना हासिल हो सकता है। कहानी में सुरंग लोगों के उस पागलपन का है जिसमें वे अपनी मनुष्यता खो रहे हैं, पीछे जा रहे हैं, पर उन्हें लगता है कि वे आगे बढ़ रहे हैं। दोनों बातों की व्याप्ति इस समय में खूब देखी जा सकती है। इस कहानी का मेरे निजी जीवन से कोई संबंध है तो बस इतना ही कि बचपन में खजानों के किस्से मुझे बहुत आकर्षित करते थे।



मनोज कुमार पांडेय

के क्रूर दृश्य हैं, तो दूसरी ओर बेरोजगारी, बदहाली की आंच में जल कर राख होते युवाओं के स्वप्न हैं। यहाँ राजा भी है, बाजा भी है, घंटा भी है, जहर भी है, मदीना भी है, खजाना (पैसा) भी है। यदि नहीं है तो वह है मनुष्यता।

मनोज कुमार पांडेय गहरे राजनीतिक कहानीकार हैं। 'घंटा' शीर्षक कहानी उनकी गंझिन राजनीतिक समझ को रेखांकित करती है, जहाँ कथाकार ने 'शिवराजपुर' कस्बा के माध्यम से अपने देश की राजनीतिक विसंगतियों, उसके छल-छद्म का पर्दाफाश किया है। इनकी कहानियाँ एक ऐसे गांव से रू-ब-रू कराती हैं जहाँ इतिहास और किंवदंतियाँ जीवित हैं। यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था के दरकने की आवाज है तो श्रम के सौंदर्य का महत्व भी है। 'खजाना' शीर्षक कहानी कुछ इसी तरह के अर्थ की अभिव्यक्ति करती है जहाँ 'रामअभिलाष' का संघर्ष 'अभिलाषपुर' में बदल जाता है।



शिव कुमार यादव

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में
रचनाएँ प्रकाशित।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में
शोधार्थी।

‘मदीना’ कहानी धार्मिक ठेकेदारों पर प्रहार करती है जो पेड़-पौधों को भी बांटकर देखने की वकालत करते हैं। कहानी के प्रकृति-प्रेमी नैरेटर द्वारा लगाया गया ‘मदीना’ (गुलमोहर) के पेड़ को उसके बाबा केवल इसलिए काट देते हैं कि पंडित

जी ने कहा है कि ‘यह तुम्हारे यहाँ कैसे? यह तो मुसलमानी पेड़ है। इससे गंदी हवाएँ निकलती हैं, जो बहुत अशुभ होती हैं और घर में तरह-तरह के रोग फैलाती हैं।’ यह इसका प्रमाण है कि आज भी समाज में धर्मांध लोग हैं और कितना अंधविश्वास मौजूद है जिसके प्रति सचेत होने की जरूरत है।

मनोज कुमार पांडेय की कहानियों की एक विशेषता यह है कि अधिकांश ‘उत्तम पुरुष’ में लिखी गई हैं, जहाँ कथाकार का ‘मैं’ पाठक के ‘हम’ में परिवर्तित हो जाता है। इन आत्मकथात्मक कहानियों को पढ़ते हुए हमें अपने जीवन के बिंब भी दिखाई देने लगते हैं।

समीक्षित पुस्तकें :

(1) काफिर बिजूका उर्फ इब्लीस : सत्यनारायण पटेल, 2016 (2) यीशू की कीलें : किरण सिंह, 2016 (3) उग्र पैतालीस बतलाई गयी थी : आशुतोष, 2017 (4) खजाना : मनोज कुमार पांडेय, 2017, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)

सीनियर रिसर्च फेलो, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005,
मो. 09454653490

लघुकथा

बंटवारा/विनय

बुद्धू भैया आज उदास थे, उनकी आंखों के सामने ही वो सब हो रहा था जिसकी उन्होंने अपने जीते जी कल्पना नहीं की थी। क्या-क्या नहीं किया था उन्होंने इस परिवार के लिए, आजीवन कुंवारे रहे, लेकिन आज उन सबकी कोई कीमत नहीं थी।

कुछ बुजुर्ग रिश्तेदारों, मुखिया और पट्टीदारों की उपस्थिति में सबकुछ तय हो गया। घर, खेत, सामान और यहाँ तक कि दरवाजे पर बंधे जानवरों का भी बंटवारा हो गया। दालान में बैठे बुद्धू भैया सूनी-सूनी आंखों से सब देख रहे थे कि कैसे उनके दोनों भाई और उनका परिवार इस बंटवारे को लेकर बहुत उत्साहित थे। अचानक वह उठे और दरवाजे पर बंधी गायों के बीच चले गए। रोज दिन में कई घंटे इन गायों के साथ ही उनका समय बीतता था, खूब चराते थे उनको।

कुछ मिनट के बाद उन्होंने वहाँ उपस्थित सभी लोगों के सामने जोर से कहा, ‘तुम लोगों ने जैसे चाहा, बंटवारा कर लिया, लेकिन इन गायों के बारे में मुझे कुछ कहना है।’ उनके दोनों भाइयों की सांस रुकने लगी। शायद भैया गायों को हम लोगों को देना नहीं चाहते, यही उनके दिमाग में आ रहा था। बुद्धू भैया ने कहा, ‘देखो, चाहे तुम लोगों ने हर चीज का बंटवारा कर लिया है, लेकिन एक चीज का हक तुम लोग मुझसे नहीं छीन सकते। मैं आगे भी सभी गायों को चराने लेकर जाया करूंगा और सबको उनकी गायों का दूध दुह कर दूंगा।’

बुद्धू भैया वहाँ उपस्थित सभी लोगों से बेखबर बस गायों को प्यार भरी नजरों से देख रहे थे और उनके भाई एक-दूसरे से नजरें चुरा रहे थे।

मो.9140521518

प्रवचन वीर अरिंदम

गोबर्द्धन दास को सैकड़ों लोगों के बीच प्रवचन देना था। अब तक वे सिर्फ पूजा-पाठ, यजमानों को दिन-मुहूर्त बताने और भजन-भोजन तक सीमित थे। गुरु से जब भी उन्होंने अपनी इच्छा जाहिर की, उन्होंने यह कहकर टरका दिया, 'गोबरधन, पहले ग्रंथों और महापुरुषों को जानो। जो बोलना चाहते हो, उसे आचरण में उतारो। बुद्ध ने पहले खुद गुड़ खाना छोड़ा, तब जाकर एक माँ के बच्चे से गुड़ न खाने का उपदेश दिया।

गोबर्द्धन सोचने लगे कि गुरु के बताए रास्ते पर चले तो घड़ीघंट बजाते रह जाएंगे। हम भक्ति काल और आंदोलन काल से अब भाषण काल में आ गए हैं। जो जितना बढ़िया भाषण देता है, उतनी अधिक जयजयकार ही नहीं दौलत भी बटोरता है। लोगों को हर तरफ से निराशा मिली है। जमीन खाली है, दखल करने का यही सही मौका है। उनका आत्मविश्वास दहाड़ा। पैर बढ़ गए 'प्रवचन कौशल हब' की ओर। यह बड़ा भव्य था, कई प्रखंडों में बने एक आश्रम जैसा। बड़े-बड़े प्रवचनकर्ता यहाँ से प्रशिक्षण लेकर निकले थे।

-आपके प्रवचन का क्षेत्र क्या होगा (1) व्यापार, (2) मनोरंजन (3) धर्म और राजनीति?

-धर्म के क्षेत्र में प्रवचन वीर होना है।

-यह संभव नहीं है। धर्म और राजनीति एक श्रेणी हो चुके हैं। धर्म में घुसेंगे तो राजनीति में वीर होकर निकलेंगे, राजनीति में घुसेंगे तो धर्म में।

-फायदा?

-तीसरा क्षेत्र चुनने पर पहले और दूसरे का प्रशिक्षण फ्री। एक लेने पर दो फ्री!

-भिक्षाटन वाले गुरु से व्यापार करने वाले गुरु में कायाकल्प? गोबर्द्धन उछल पड़े।

-एकदम ताजा, रिफ्रेशिंग, चुंबकीय प्रवचन वीर!

-प्रशिक्षक कौन होंगे? गोबर्द्धन घबराए हुए थे कि कहीं पढ़ने के लिए किताबें थमाने वाले गुरु न मिल जाएं।

-सामने के ब्यूटी सेलून में जाएं।

गोबर्द्धन सोच में पड़ गए कि प्रवचन का ब्यूटी सेलून से क्या रिश्ता। ब्यूटी सेलून में घुसे तो वहाँ भूतपूर्व प्रशिक्षुओं के चित्र टंगे थे। एक में रोमांटिक शैली की दाढ़ी-मूँछें लहराते, कलर किए हुए केश के साथ और बर्फ की सफेद चादर-सा झकास वस्त्र पहने धर्मगुरु थे। चित्र के नीचे उनके स्वदेशी उत्पादों का विज्ञापन था। साबुन से लेकर च्यवनप्राश तक सब प्राचीनता का गौरव गान कर रहे थे। दूसरे चित्र में शास्त्रीय शैली की बिखरी दाढ़ी-मूँछें थीं। वे बढ़े केश के साथ गेरुआ पहने

किसी वीर नायक-से बाबा थे। चित्र के नीचे उनके भी स्वदेशी उत्पादों का प्रदर्शन था। वाह, स्वदेशी में भी अतीत को हड़पने की क्या स्पर्धा है! बाजार के कई ब्रांडेड गुरुओं के अलावा राजनेताओं और व्यक्तित्व बर्द्धक टेकनो-गुरुओं के चित्र भी थे, जिस तरह ब्यूटी सेलून में सितारों के होते हैं।

-अच्छा प्रवचनकर्ता बनने के लिए शरीर और मिजाज के अनुरूप वस्त्र और केश-दाढ़ी के कट होने चाहिए। सौंदर्य विशेषज्ञ ने समझाया।

-विचार क्या होंगे?

-गोबर्द्धन जी, विचार से अधिक महत्व आपका लुक है। आज अलग विचार नहीं अलग शैली चाहिए।

कट-छंट कर, एक अनोखा वस्त्र पहन और छापा-तिलक लगा कर गोबर्द्धन निकले तो वे दिव्य, मजबूत और आकर्षक लग रहे थे। गदगद थे कि उन्हें आदेश मिला- अभिनय संस्थान में जाएं।

-प्रवचन वीर को अच्छा दिखना ही नहीं, अच्छा ड्रामा करना भी आना चाहिए। तुम्हें कोई देख रहा हो या नहीं, भीड़ के सामने तब तक हाथ हिलाकर अभिवादन करते रहो, जब तक सभी लोग तालियां न बजाने लगें। एक फिल्मी कलाकार उन्हें समझा रहा था।

-किसी ने तालियां नहीं बजाईं तब?

-उनके बीच अपने आदमियों को रखो। वे शुरू कर देंगे तो भीड़ उनका तड़तड़ अनुकरण करेगी। जान लो, भीड़ का काम ही है अंधा अनुकरण। अच्छे प्रवचन का लक्ष्य है लोगों को भीड़ में बदल देना। गोबर्द्धन फिर उछले -समाज नहीं भीड़!

-प्रवचन एक व्यक्तिगत कर्म नहीं एक व्यापक औद्योगिक नेटवर्क है। एक कंपनी खड़ी करनी होगी, एक ब्रांड बनना होगा। ब्रांड उसी जगह बनता है जहाँ भीड़ होती है।

-तो मुझे व्यक्ति नहीं ब्रांड बनना है?

-बिल्कुल। आज सब कुछ तमाशा है। श्रोताओं को सम्मोहिनी तृष्टि से देखो। उन्हें बताओ कि वे अकेले नहीं हैं। बताओ कि वे कितने महत्वपूर्ण हैं, भले मन में उन्हें बेवकूफ समझना। नाटक किए

बिना भाषण का असर नहीं पड़ता।

-मैंने कभी नाटक किया नहीं। उनका माथा चकराया।

-सीखो! नाटक भाषण का मुख्य अंग है। कभी दुखी हो जाओ, श्रोता तुम्हें एकदम अपना समझने लगेंगे। बात-बात पर भावुक हो जाओ, भावनाएँ तर्क से हजार गुना ज्यादा ताकत से काम करती हैं। कभी आवाज ऊंची रखो, कभी धीमी कर दो। कभी सपने दिखाओ। लोगों से बीच-बीच में जयकारा लगावाओ। लगातार भाषण न झाड़ते रहो। कुछ क्षण रुक कर समझो कि श्रोता किस बात पर ताली बजाएंगे। उनसे कहो कि आप लोग एक महान भविष्य के वर्तमान हो।

-वर्तमान दुख-कष्टों से भरा है। लोग इस तरह कैसे कल्पना करेंगे?

-महान भविष्य का झूला नहीं डालोगे तो लोग तुम्हारा प्रवचन सुनने क्यों आएंगे? हर अच्छा भाषण महान भविष्य का झूला है, झुलाते रहो।

-यशोदा हरि पालने झुलावे! गोबर्द्धन भाव विभोर होकर गाने लगे।

-प्रवचन के आगे-पीछे, बीच-बीच में गाना-बजाना चलना चाहिए। डीजे बजाओ। भीड़ को झुलाना ही नहीं झुमाना भी होगा। प्रवचन से अधिक मादक दूसरा कुछ नहीं है। थोड़ा इन्वेस्ट करो। हीरो-हिरोइनें मंगाओ, खिलाड़ी मंगाओ। ग्लैमर दिखाओ। बीच-बीच में हँसाते रहना। इस सर्कस में जोकर ही रिंग मास्टर होता है!

गोबर्द्धन घबराए, जब उन्हें एक डकैत के पास जाना पड़ा। वे डर गए। ब्यूटी सेलून और अभिनेता तक ठीक था, डकैत ने सब लूट लिया तब? संतोष हुआ, सब कैशलेस है तो डकैत क्या पाएगा!

-हर अच्छा भाषण डकैती है। समूचे गाल तक फैली उसकी मूँछें भयंकर थीं।

-कैसे? उन्हें आश्चर्य हुआ।

-वेद-पुराण, संत-चिंतक, धर्म-इतिहास इन पर सांस्कृतिक डकैती के बिना प्रवचन में क्या बोलोगे? हर पसंद का माल अपना। उस पर अपना रंग चढ़ा दो।

-लोग क्या कहेंगे!

-इतिहास की जुबान बंद नहीं करोगे तो तुम्हारी जुबान कैसे चलेगी? वह डकैत भयंकर लगने लगा था।

-डकैती खून-खराबा लाती है। वे कांप रहे थे।

-खून-खराबे से न हिचको। लोग तुम्हारे लिए सड़कों पर जान दे दें, ऐसा मंत्र पढ़ाओ। हर रणक्षेत्र की अपनी अलग 'गीता' होती है। भीड़ से कहो कि वह धर्म के संदेश को पहचाने और वह संदेश तुम खुद हो। लोगों में चट्टानी आस्था पैदा कर दो कि तुम ईश्वर का संदेश हो। ईश्वर अगम है, अनंत है, लीलामय है और वह तुम कम नहीं हो! जान लो, 'मैं ही मार रहा हूँ' का मुखौटा है 'मैं ही मर रहा हूँ' प्रवचन हेतु मुखौटा जरूरी है।

गोबर्द्धन दास को युग परिवर्तन दिखाई पड़ा, डकैत धर्म की वाणी बोल रहा है।

उन्हें पता चल गया कि पोस्ट-टूथ के युग का प्रवचन कैसा होना है। अब उन्हें किसी बहुराष्ट्रीय कंपनी के एक व्यापारी के पास जाना था।

-हर प्रवचन एक व्यापार है। प्रवचन की श्रेष्ठता की कसौटी है कि व्यापार बढ़ रहा है या नहीं। हर प्रवचन से पहले भोग का सौदा हो जाना चाहिए। प्रवचन करने वाले की महत्ता पहले की तरह उसके त्याग से नहीं मापी जाती, इससे मापी जाती है कि कितने लाख का भोग चढ़ेगा। अब तुम आम इन्सान नहीं हो। जीवन दिखने पर सादा पर लकजरी भरा होना चाहिए, अन्यथा तुम्हारी कोई हैसियत नहीं है।

- मेरे लिए प्रवचन देश सेवा है। गोबर्द्धन दास को लगा कि अब जाकर वे परिपक्व हुए हैं और एक नया अवतार आकार ले रहा है।

-देश का दुख-कष्ट भाषण से ही दूर हो सकता है। इसलिए हमेशा बोलता हुआ दिखो-मंचों पर या घंट-चौबीसा टीवी चैनलों पर। आज से अमृत वर्षा शुरू कर दो, धन वर्षा होगी। प्रवचन व्रत धारण करो।

-व्रत कैसे होगा? मैं हमेशा खाने-पीने, मौज-मस्ती में डूबा रहने वाला आदमी हूँ!

-मैंने प्रवचन व्रत कहा है! प्रवचन का अर्थ ही है शब्दभोग के अलावा अन्नभोग, धनभोग, देशभोग। आम लोगों की देशभक्ति दान है- अन्नदान, धनदान, प्राणदान। तुम्हारी देशभक्ति भोग है।

-और क्या करना होगा? उन्होंने पूछा।

-आज जीवन तनाव भरा है। तवा बिल्कुल गर्म है। लोगों को बताओ कि ईश्वर का ध्यान करने भर से कैसे सारी पेशानियाँ दूर हो जाती हैं और तुम खुद किस तरह ईश्वर तक जाने के मार्ग हो। उन्हें यह भी बताओ कि वे कैसे अपनी आमदनी डबल कर सकते हैं। जान लो कि असल में तुम्हें अपनी आमदनी डबल करनी है और जमीन-जायदाद बढ़ाना है। यह सिर्फ भाषण से हो सकता है। भक्त से भक्त बढ़ता है और पैसे से पैसा!

-प्रवचन पर जीएसटी तो नहीं है?

-यह टैक्स-फ्री मामला है, बस राजनीतिज्ञों से संपर्क रखना! काफी पैसा जमा हो जाए तो चैरिटेबुल ट्रस्ट खोल दो। अपना भंडारा चलाओ। अपना धन स्कूलों, नर्सिंग होमों और आश्रमों में लगाते रहो। इनकी ओट में सब छिपा रहेगा। सेवन और सेवा की जोड़ी ही विकास की रीढ़ है।

गोबर्द्धन को प्रसिद्ध होने, पैसा कमाने और देश सेवा का महान अवसर मिलता नजर आया। उन्हें संतोष था कि किसी ने ज्ञानार्जन करने, ग्रंथ पढ़ने, सादगी से रहने के लिए नहीं कहा।

अब उन्हें ससम्मान एक लेखनागार में ले जाया जा रहा था घोस्ट राइटर भाषण तैयार कर रहे थे, मैगी की तरह लच्छेदार भाषण। गोबर्द्धन दास को लगा कि चलो खुद मेहनत से छुट्टी मिली। हर प्रवचन रेडीमेड डिश है।

गोबर्द्धन दास प्रवचन वीर बन चुके हैं, पर उन्हें यह भी तलखी से महसूस हुआ कि वे इतने रिक्त हो गए हैं कि उनके पास अब अपना कुछ नहीं बचा है। वे गाने लगे-

प्रवचन की दुनिया कैसी सयानी,
टके सेर पानी टके सेर ज्ञानी!



सोशल मीडिया वागर्थ के पन्नों पर

विचार

इंटरनेट की लत

कंप्यूटर और इंटरनेट के आने के बाद वैश्विक क्रिया-व्यापार वैसा नहीं रहा जैसा उसके पहले था, चाहे वह क्षेत्र आर्थिक हो या ज्ञानात्मक। एक तरफ मनुष्यों के बीच की हजारों मील की दूरी को सेकेंडों तक सीमित करके इसने मानवीय मेल-जोल के नए आयाम खोले हैं, वहीं दूसरी तरफ दुनिया भर के ज्ञान के सूचनात्मक आयाम को सिर्फ एक क्लिक पर मानव की सेवा में हाजिर कर दिया है। विज्ञान के इस माध्यम ने जहाँ नई संभावनाओं को जन्म दिया है, वहीं संस्कृति उद्योग से जुड़ने के कारण इसने जिस आभासी दुनिया का निर्माण किया है उसके बहुविध खतरे भी सामने आए हैं। इस तरह पूंजीवाद की मरणशील संस्कृति ने सभ्यता के सम्मुख एक नया संकट उपस्थित किया है।

लूट के लिए बर्बर व्यावसायिक सौदों ने एक बड़ी आबादी से न सिर्फ उसकी जीविका छीनी है, बल्कि उसे मानवीय सारतत्व से वंचित किया है। उसे आत्मिक संपदा से रिक्त, आत्ममोहग्रस्त, आत्मकेंद्रित और समाजविमुख बनाया है। ऐसे में इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाली आबादी का एक बड़ा हिस्सा इस आभासी दुनिया के मोहपाश में एकाकीपन और अलगाव के कारण बंधता जा रहा है और आज कई लोगों में यह एक मानसिक बीमारी का रूप ले चुका है। इंटरनेट पर यह निर्भरता लत या इंटरनेट एडिक्शन डिसऑर्डर के रूप में सामने आ रही है। यह आज विश्व स्तर पर सोचने, विचारने और बहस का मुद्दा बन चुका है।

‘अमेरिकन सोसाएटी ऑफ एडिक्शन मेडीसिन’ ने एडिक्शन की नई परिभाषा देते हुए कहा है कि एडिक्शन एक गंभीर दिमागी रोग है, जो एक पदार्थ तक सीमित नहीं है। इंटरनेट एक मादक पदार्थ हीरोइन का काम कर रहा है। समाज का शायद ही कोई ऐसा वर्ग होगा, जो इस इलेक्ट्रॉनिक हीरोइन के असर से बचा हो। खास करके मध्यवर्गीय आबादी, विद्यार्थियों और नौजवानों में इसका असर सबसे अधिक है।

सोशल नेटवर्किंग साइट्स के बाद नौजवानों में प्रचलित चीज है ऑनलाइन वीडियो गेमिंग। दशक 1970-80 में सामने आने के बाद वीडियो गेम इंडस्ट्री ने 2002 तक 10.3 बिलियन डालर कमाए। वीडियो गेमों की तरफ लोगों का बढ़ता रुझान भी आज वीडियो गेम लत (एडिक्शन) का रूप धारण कर चुका है। एक मैगजीन में छपी खोज के अनुसार 9 प्रतिशत बच्चे ऑनलाइन वीडियो गेम एडिक्शन के शिकार हैं।

आज वीडियो गेम मनोरंजन से कहीं अधिक एक घातक चीज के नजदीक पहुँच चुका है।

सृष्टि



सांस्कृतिक गुलामी

राजनीतिक गुलामी से सांस्कृतिक गुलामी अधिक गहरी और लंबी चलने वाली होती है। राजनीतिक गुलामी कुछ पीढ़ियों के बाद समाप्त हो जाती है, लेकिन सांस्कृतिक गुलामी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है।

राजनीतिक गुलामी में आम तौर पर देह गुलाम होती है और दिमाग आजाद होता है। मगर सांस्कृतिक गुलामी आदमी के दिलो-दिमाग पर ऐसे कब्जा कर लेती है कि आदमी गुलामी के कारण तो दूर, गुलामी को भी नहीं समझ पाता है; उलटे आदमी अनेक ऐसे कार्य करता जाता है, जो उसकी गुलामी को बढ़ाने में सहायक होते हैं।

सांस्कृतिक गुलामी से मुक्ति का एक ही रास्ता है कि उत्पीड़ित वर्ग अपने बुद्धिजीवी पैदा करे, जो उसको सांस्कृतिक गुलामी से आजाद कराने में सहायक हो।

ग्राम्शी

कविता

उत्तर कोरिया द्वारा आणविक परीक्षण के संदर्भ में:

दरवाजे पर मैं आपके
दस्तक दे रही हूँ
कितने ही द्वार खटखटाए हैं मैंने
किंतु देख सकता है कौन मुझे
मरे हुआँ को कोई कैसे देख सकता है
मैं मरी हिरोशिमा में
दस वर्ष पहले
मैं थी सात बरस की
आज भी हूँ सात बरस की
मरे हुए बच्चों की आयु नहीं बढ़ती
पहले मेरे बाल झुलसे
फिर मेरी आंखें भस्मीभूत हुईं
राख की ढेरी बन गई मैं
हवा जिसे फूँक मार उड़ा देती है
अपने लिए मेरी कोई कामना नहीं

मैं जो राख हो चुकी हूँ
जो मीठा तक नहीं खा सकती
मैं आपके दरवाजों पर
दस्तक दे रही हूँ
मुझे आपके हस्ताक्षर लेने हैं
ओ मेरे चाचा! ताऊ!
ओ मेरी चाची! ताई!
ताकि फिर बच्चे इस तरह न जलें
ताकि फिर वे कुछ मीठा खा सकें।

नाजिम हिकमत

मैं चुप हूँ गौरी लंकेश!

एक-एक कर मारे जा रहे हैं लोग
और मैं चुप हूँ
मैं चुप हूँ
इसीलिए किसी भी
खतरे में नहीं मैं गौरी लंकेश!
मैं देख नहीं रहा उधर
लोग मारे जा रहे हैं जिधर
जिधर जहाँ आग लगी है
जिधर संताप का सुराज है
वह दिशा ओझल है मुझसे।

सुनो गौरी लंकेश!
मैं बोलूंगा तो पद्मश्री नहीं मिलेगी मुझे
मैं बोलूंगा तो पुरस्कार नहीं मिलेगा मुझे
मैं बोलूंगा तो भारत रत्न नहीं बन पाऊंगा
देखो गौरी
कितना सुखी हूँ और सुरक्षित हूँ
चुप रह कर
कितना उज्वल भविष्य है मेरा
हर दिशा से शुभ और लाभ से घिरा हूँ
.....
ऐसा युग पहले कभी नहीं आया था
जब हाहाकार को मंगलगान-सा
समाज ने मिल कर गाया था।
(अंश)

बोधिसत्व, मुंबई

जीवन संदेश

मित्रता



□

मुस्कुराइए, क्योंकि यह जीवन दुबारा नहीं मिलेगा। अगर आप शिक्षक हैं तो जब मुस्कुराते हुए कक्षा में घुसेंगे, तो सभी बच्चों के दिमाग खिल जाएंगे। अगर आप मुस्कुराते हुए शाम को घर में घुसेंगे, पूरे परिवार में खुशियों का माहौल बन जाएगा। अगर आप व्यापारी हैं, तो जब दफ्तर में घुसेंगे, कर्मचारियों का प्रेशर कम हो जाएगा और सभी में स्फूर्ति आ जाएगी। सड़क पर चलते हुए अनजान आदमी को देख कर मुस्कुराइए, देखिए, उसके चेहरे पर भी मुस्कान आ जाएगी। मुस्कुराइए, क्योंकि मुस्कुराने में पैसे नहीं लगते। यह खुशी और आत्मसमृद्धि की पहचान है। मुस्कुराने का मकसद न दूँ, वरना जिंदगी यूँ ही गुजरती जाएगी। मुस्कुराहट अनमोल है। इससे देने वाले का कुछ कम नहीं होता और पाने वाला निहाल हो जाता है। मुस्कुराइए, क्योंकि लोग खिजाएँ नहीं, बहारें देख कर खुश होते हैं।

□

पेड़ के नीचे रखी भगवान की टूटी मूर्ति को देख कर समझ में आया कि परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, पर कभी खुद को टूटने नहीं देना है, वरना यह दुनिया जब टूटने पर भगवान को घर से निकाल सकती है, तो फिर हमारी क्या औकात है!

□

जीवन जितना सादा
तनाव उतना आधा।

बाप-बेटा

बेटा अपने बूढ़े बाप को अनाथ आश्रम छोड़ कर वापस आ रहा था, तो उसकी बीवी ने फोन किया और कहा, 'अपने बाप को यह भी कह दो कि त्योहार पर भी घर आने की आवश्यकता नहीं, अब वहीं रहें और हमें शांति से जीने दें।'

बेटा वापस मुड़ा और अनाथ आश्रम गया, तो देखा कि उसका बाप आश्रम के मैनेजर के साथ खुश, गप्पों में व्यस्त हैं और वह यूँ बैठे हैं जैसे बरसों से एक-दूसरे को जानते हों।

बेटे ने पूछा, 'सर, आप मेरे पिता को किस तरह और कब से जानते हैं?'

उसने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, 'जब ये अनाथालय से एक बच्चे को गोद लेने आए थे!'

बाबाओं का मायाजाल

हमारे प्यारे भारतवर्ष को यदि कृषिप्रधान के साथ-साथ बाबाप्रधान देश भी कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह कहने का कारण भी बड़ा ही साफ है, क्योंकि यहाँ पर आपको डाल-डाल पर सोने की चिड़ियाँ तो बसेरा करती नहीं दिखेंगी, किंतु यत्र-तत्र-सर्वत्र बाबा (और बाबियाँ भी) जरूर नजर आ जाएंगे। आप इनके कपड़ों से धोखा खाकर इन्हें एक लकड़ी से हांकने का प्रयास करेंगे, तो गच्चा खा सकते हैं। इनकी तमाम किस्में हैं और ये किस्में एक-दूसरे से पूरी तरह अलहदा भी हैं। सभी का भक्तों का अपना-अपना साम्राज्य है तथा साम्राज्य को कायम रखने के अपने-अपने विशिष्ट किस्म के हथकंडे।

हास्य



अरविंद

पुस्तकालय दिवस पर आयोजन

पश्चिम बंगाल में पुस्तकालय दिवस के अवसर पर भारतीय भाषा परिषद के भागीरथ कानोड़िया ग्रंथालय में कहा गया कि पुस्तकालय के बिना जरूरतमंदों को ज्ञान की दुनिया में प्रवेश संभव नहीं है। पुस्तकालय जाने और किताबें लेकर पढ़ने की आदत का छूटना दुर्भाग्यजनक है। अपने नगर के पुस्तकालयों के संरक्षण के लिए समाजसेवियों और विद्यार्थियों को आगे आना चाहिए।

पुस्तकालय दिवस पर बोलते हुए वरिष्ठ कथाकार और परिषद अध्यक्ष डॉ. कुसुम खेमानी ने कहा कि पुस्तकें जीवन में साथ देती हैं और व्यक्ति को महीने में कम से कम एक किताब पढ़नी चाहिए। परिषद के निदेशक और वरिष्ठ लेखक डॉ. शंभुनाथ ने पुस्तकालय को दुनिया की संस्कृतियों का घर बताते हुए कहा कि देश के हिंदी पुस्तकालयों की यथोचित उन्नति नहीं हो पाई है। समाजसेवियों और विद्यार्थियों को अपने-अपने इलाके के पुस्तकालयों को कलाओं, शिक्षाप्रद फिल्मों और विभिन्न साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों से जोड़ कर पुनर्जीवन देना चाहिए। पुस्तकालयों को धीमी मौत मरने देना सांस्कृतिक आत्मघात है। श्रीमती बिमला पोद्दार ने कहा कि पुस्तकालय में बीच-बीच में पाठकों के लिए पुस्तकों पर चर्चा भी होती रहनी चाहिए। वरिष्ठ पत्रकार श्री विनय बिहारी सिंह ने कहा कि पुस्तकों में एक सूक्ष्म सुगंध होती है जो हमारी अंतरात्मा को भिगो देती है और उससे हमें जीवन मिलता है। श्रद्धांजलि सिंह ने कहा कि गुगल सर्च के जमाने में आमतौर पर लगता है कि पुस्तकों की जरूरत नहीं है पर विश्वसनीयता और प्रामाणिकता के लिए पुस्तकों का कोई विकल्प नहीं है। सुशील कान्ति ने कहा कि पुस्तकालय को आधुनिक बनाने की जरूरत है ताकि नई पीढ़ी में इसमें रुचि के साथ आ सके। परिषद के मंत्री श्री नंदलाल शाह ने धन्यवाद देते हुए कहा कि अमेरिका जैसे विकसित देश में भी हर इलाके में पुस्तकालय हैं जहाँ लोग अध्ययन के लिए जाते हैं और इससे एक सामाजिकता भी पैदा होती है।

प्रस्तुति : बालेश्वर राय

‘आज के सवाल और प्रेमचंद’ पर विचार संगोष्ठी

भारतीय भाषा परिषद और खिदिरपुर कॉलेज के सह आयोजन में प्रेमचंद जयंती के अवसर पर विचार व्यक्त करते हुए कहा गया कि प्रेमचंद भारत में एक बनते हुए महान राष्ट्र के साक्षी थे जबकि आज हर तरफ पुल की जगह खाइयां पैदा की जा रही हैं। उनकी रचनाएं ‘ईदगाह’, ‘रंगभूमि’ और ‘गोदान’ आज भी प्रेरित करती हैं। वे हिंदी और उर्दू के बीच हमारे समय के सबसे बड़े पुल हैं। प्रेमचंद और आज के सवाल पर हुई चर्चा में लगभग बीस कॉलेजों और विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों और

शोधार्थियों और शिक्षकों ने अपने वक्तव्य रखे। उनमें स्त्रियों की संख्या का ज्यादा होना यह साबित करने के लिए काफी था कि इस समय वे कितनी मुखर और स्वतंत्रता के लिए कितनी बेचैन हैं। रांची विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अरुण कुमार ने कहा कि प्रेम और वैचारिक स्वतंत्रता के बीच गहरा संबंध है जिसे आज मिटाने की कोशिश की जा रही है। उर्दू की प्रो. शहनाज नबी ने प्रेमचंद को एक महान कथाकार बताते हुए कहा कि प्रेमचंद उर्दू और हिंदी की एकता के प्रतीक हैं। प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय के प्रो. वेदरमण ने कहा कि प्रेमचंद ने किसानों का जो प्रश्न अपने कथा साहित्य उठाया था वह आज फिर महत्वपूर्ण हो गया है। खिदिरपुर कॉलेज की हिंदी विभागाध्यक्ष प्रो. इतु सिंह ने प्रेमचंद के पुनर्मूल्यांकन की जरूरत बताते हुए कहा कि आज हम जिन समस्याओं से घिरे हुए हैं प्रेमचंद का कथा साहित्य उनसे बाहर निकलने का मार्ग दिखाता है। जालान गर्ल्स कॉलेज की प्रो. मधुलता गुप्त ने प्रेमचंद को एक मानवतावादी कथाकार बताते हुए कहा कि आज राष्ट्रवाद और मानवतावाद को जोड़ने की बहुत जरूरत है। बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय के प्रो. कफील अहमद नसीम ने बताया कि प्रेमचंद के कथा साहित्य के केंद्र में स्त्री और दलित हैं जो आज के विमर्शों के लिए रोशनी का काम करते हैं।

इस अवसर पर अपना अध्यक्षीय वक्तव्य देते हुए प्रो. शंभुनाथ ने कहा कि प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' बाजारवाद के विरुद्ध विद्रोह है। यह कहानी बनावटी वस्तुओं की जगह हामिद के चिमटा की तरह की जरूरी वस्तुओं को चुनने की शिक्षा देती है। हमारा युग जब 'सादा जीवन-उच्च विचार' से 'कृत्रिम जीवन निम्न विचार' की ओर बढ़ रहा है प्रेमचंद का कथा साहित्य सादगी, सहिष्णुता और मानवता के आलोक स्तंभ की तरह दिखाई देता है। परिषद की अध्यक्ष डॉ. कुसुम खैमानी, खिदिरपुर कॉलेज की डॉ. दीबा हाशमी और परिषद के मंत्री नंदलाल शाह ने अतिथियों का स्वागत किया। दो सत्रों के आयोजन का संचालन किया ज़ोहेब आलम और डॉ. अर्चना पांडेय ने।

प्रस्तुति : विश्वप्रिय

स्मृतियाँ देश के निर्माण के लिए

छह सितम्बर को मऊ में राम गोविंद राय, रामायण राय स्मृति संस्थान द्वारा आयोजित एक परिसंवाद का विषय था, 'मनुष्यता के लिए क्यों जरूरी हैं स्मृतियाँ।' स्मृतियाँ किसी देश का निर्माण कर सकती हैं तो उसे नष्ट भी कर सकती हैं। वे समाज को प्यार और सद्भाव के रास्ते पर ले जा सकती हैं और दंगे, मार-काट और अराजकता में भी धकेल सकती हैं। संगोष्ठी की अध्यक्षता की 'अभिनव कदम' के संपादक जयप्रकाश धूमकेतु ने। इस वर्ष भारतीय शास्त्रीय संगीत के युवा गायक देवेश सिंह को सम्मानित किया गया।

प्रो. आर के मंडल ने कहा, 'सच यह है कि हमारे पास जो भाषा है, जिसमें हम व्यक्त होते हैं, वह भी स्मृति का ही हिस्सा है। हम कहते तो हैं कि साझी स्मृतियों वाले लोग हैं लेकिन इन्हें ही खत्म कर देने की कोशिशें चल रही हैं।' प्रो संजय कुमार ने कहा, 'व्यक्तिगत स्मृतियाँ दो-तीन पीढ़ियों तक रहती हैं जबकि जातीय स्मृतियाँ हजारों साल तक। सच यह है कि बिना स्मृति के कल्पना संभव नहीं है और बिना कल्पना के स्मृति भी नहीं। सत्ता संरचनाएँ हमेशा देश की स्मृतियों पर नियंत्रण की कोशिश करती हैं। उन्हें पता होता है कि इनकी अनुकूल व्याख्या कर वे अपनी नींव मजबूत कर सकती हैं।' रामजी यादव ने कहा कि हमें तय करना होगा कि हम किस तरह की स्मृतियाँ सुरक्षित रखना चाहते हैं। वे नकारात्मक भी हैं, सकारात्मक भी।

युवा रचनाकार सोनी पांडेय ने विषय रखते हुए स्मृतियों में बेटियों की जगह का प्रश्न उठाया। स्मृति सभा में बड़ागांव तथा आस-पास के गाँवों और मऊ के सैकड़ों लोग मौजूद थे।

प्रस्तुति : सुभाष राय

‘दूसरी नजर’ का लोकार्पण

विज्ञान चेतना की हिंदी पत्रिका ‘दूसरी नजर’ का लोकार्पण काँचरापाड़ा (उत्तर 24 परगना) जनता हाई स्कूल में सूत्रधार और विज्ञान दरबार के सहयोग से किया गया। यह पत्रिका विज्ञान दरबार द्वारा प्रकाशित बांग्ला पत्रिका ‘अन्यो चोख’ की सहयोगी पत्रिका है। लोकार्पण करते हुए रामप्रवेश प्रसाद ने कहा कि ‘दूसरी नजर’ पत्रिका शिल्पांचल में आंगन की तुलसी की तरह समृद्धि पाएगी। संपादक भोला प्रसाद सिंह ने कहा कि पत्रिका के द्वारा समाज में सजगता जगाने, प्रकृति के प्रति हो रहे दोहन से सावधान करने एवं समाज में व्याप्त अंधविश्वास के प्रति जागरूकता पैदा करने की कोशिश की जाएगी। विशिष्ट अतिथि दीप नारायण सिंह ने कई सांस्कृतिक आंदोलनों के बारे में बताया। इससे पहले विज्ञान दरबार के कार्यकर्ता दीपक मजुमदार एवं स्वपन शील ने विज्ञान दरबार के कार्यकलापों से लोगों को अवगत कराया।

प्रस्तुति : नीलम कुमारी

पुस्तक लोकार्पण

भारतीय भाषा परिषद में आयोजित ‘काव्य लहरी’ के एक वर्ष पूरे होने के अवसर पर पश्चिम बंगाल के माननीय राज्यपाल श्री केशरीनाथ त्रिपाठी के चार कविता संग्रह का लोकार्पण किया गया। साथ ही काव्य-लहरी के 73 कवियों के काव्य संग्रह का भी लोकार्पण हुआ। श्री केशरीनाथ त्रिपाठी ने कहा कि अगर कोई रचनाओं की प्रशंसा करता है तो यह आपको और अच्छा करने की प्रेरणा देती है। अगर कोई आलोचना करे तो यह आपको खुद में सुधार लाने के लिए प्रेरित करती है।

कवि व गीतकार बुद्धिनाथ मिश्र ने अपनी कविताएँ प्रस्तुत कीं। परिषद की अध्यक्ष डॉ. कुसुम खेमानी ने अतिथियों का स्वागत किया। कार्यक्रम का संचालन नंदलाल शाह ने किया और अध्यक्षता डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी ने की।

प्रस्तुति : गिरिधर राय

कहानी कहने पर फिल्म प्रदर्शन

कहानी पाठ के साथ ‘सृजन संवाद’ की गोष्ठी में कहानी कहने पर फिल्म प्रदर्शन भी हुआ। विजय शर्मा ने नीला वेंकटरामन की बनाई फिल्म ‘लिविंग स्टोरीज, स्टोरीज टेलिंग ट्रेडिशन ऑफ इंडिया’ दिखाई। फिल्म भारत के विभिन्न प्रदेशों की कहानी कहने की कला को प्रदर्शित करती है। कहीं यह कथकलि के रूप में है तो कहीं बाउल के रूप में, यक्षगान और पंडवानी भी इसी की की है और कलमकारी भी। फिल्म संदेश देती है कि एक कहानी कई तरह से कही जा सकती है। ऐसी साहित्यिक गोष्ठियाँ हमें साहित्य में गहरे उतरने में सहायक होती हैं।

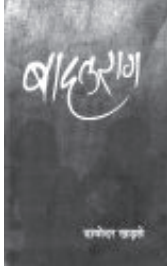
प्रस्तुति : विजय शर्मा

किताबें

ये मेरे शब्द (कविता संग्रह) : नंदकिशोर नंदन

शब्दालोक, नई दिल्ली : मूल्य : 170 रुपए

इनकी कविताओं में जीवन सौंदर्य बोलता है जो कहीं से कृत्रिम नहीं लगता। प्रकृति-परिवेश और सामाजिक यथार्थ के बिंब विश्वसनीय हैं।



बादल राग (उपन्यास) : दामोदर खड़से

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली : मूल्य : 30 रुपए

स्त्री-मुक्ति के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं के साथ शारीरिक और मानसिक आयामों पर विचार इस उपन्यास में किया गया है। साथ ही स्त्री-पुरुष समानता की पैरवी है।

देशराग (लेख संग्रह) : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली : मूल्य : 350 रुपए

इस पुस्तक में 'दस्तावेज' पत्रिका में आए विचारोत्तेजक संपादकीय संगृहीत है। इन लेखों में साहित्य, संस्कृति, भाषा, समाज और व्यक्तियों के प्रति व्यक्त विचार हैं जिन्हें लेखक ने देशराग कहा है।



सुबह-सवेरे (कहानी संग्रह) : हरियश राय

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली : मूल्य : 325 रुपए

हरियश राय की कहानियों में बदलते जा रहे परिदृश्य का दर्द है। हम अपने स्वाभाविक प्रवृत्ति पीछे छोड़ कर आज किस जमीन पर टिके हैं- इसे कहानीकार बखूबी चित्रित करता है।

विघटन (उपन्यास) : जयनंदन

राजपाल प्रकाशन, नई दिल्ली : मूल्य : 350 रुपए

बढ़ते बाजारीकरण, बदलती राजनीति और धर्म के उलझे धागों से रचा समाज क्या भारतीय युवाओं के सपने को पूरा कर पाएगा? इसी सच को जयनंदन ने अपने कहानी-संग्रह में दिखाने का प्रयास किया है।



इस तरह मैं (कविता संग्रह) : पवन करण

राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली : मूल्य : 250 रुपए

इन कविताओं की सहजता हमें आकर्षित करती है। दुनिया में रहना-जीना जितना प्राकृतिक है, उनकी कविताएँ भी लगभग वैसी ही हैं।

प्रेम जनमेजय, नई दिल्ली : 'वागर्थ' का जुलाई 2017 अंक प्राप्त हुआ। अपने प्रिय कहानीकारों रमेश उपाध्याय एवं पंकज सुबीर की कहानियाँ पढ़ गया। दोनों कहानियाँ मेरे सोच के करीब हैं। आप व्यंग्य को भी स्थान दे रहे हैं, देखकर अच्छा लगा।

कालिदास बा. मराठे, गोवा : 'वागर्थ' अगस्त 2017 अंक मिला। कश्मीर पर कविताएँ विशेष तौर पर बहुत पसंद आईं।

कहानी के कई रूप और उसका चेहरा देखने को और पढ़ने को मिला। हिंदी का अच्छा साहित्य हर राज्य की भाषा में अनूदित होने की जरूरत है। मैं इस राज्य में 'वागर्थ' का प्रचार और प्रसार करने का प्रयास करूंगा। वागर्थ को इस नए दौर के लिए ढेरों शुभकामनाएँ।

काशीप्रसाद खेरिया, कोलकाता : 'वागर्थ' के अगस्त 2017 के अंक में प्रकाशित अवधेश प्रधान का आलेख 'भारतेंदु की कविवचन सुधा' को मैंने गहराई से पढ़ा। लेखक ने 150 वर्ष पुराने कई अनजाने और महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है।

अमृतलाल मदान, कैथल : 'वागर्थ' के जुलाई अंक के 'देश-देशांतर' के भीतरी आवरण पृष्ठों पर काव्यमयी अभिव्यक्तियाँ बड़ी प्ररणादायी हैं। 'प्रेमचंद की नजर में राष्ट्र' में गोपेश्वर सिंह ने उचित ही निष्कर्ष निकाला है कि प्रेमचंद सत्ता परिवर्तन के नहीं, व्यवस्था परिवर्तन के हिमायती थे। विभिन्न मुद्दों पर उनकी तुलना अंबेडकर, गांधी और समाजवादीयों के साथ करते हुए उनके लेखक

व्यक्तित्व को श्री-इन-वन की तरह बखूबी समेटा गया है। 'कश्मीर में कविताएँ' इस अंक की विशेष सामग्री है जिसमें नए व पुराने कवियों-शायरों की रचनाओं में मानवतावाद, कश्मीर त्रासदी से उपजी करुणा, राजनेताओं की जीवनशैली पर व्यंग्यात्मक प्रहार और अनेक प्रकार की विसंगतियों की मार्मिक अनुभूति होती है।

शुभदा मिश्र, डोंगरगढ़ : 'वागर्थ' के अगस्त अंक में प्रशासनिक भ्रष्टाचार में पिसते निम्न वर्ग के किसानों की व्यथा कथा उजागर करती सदानंद देशमुख की कहानी 'महालूट' पाठकों का हृदय द्रवित कर देती है। पल्लवी त्रिवेदी की कहानी 'कन्फेशन' में प्रौढ़ा सेक्सवर्कर की महानता कहानी में जान डाल देती है। दोनों ही लेखकों को मेरी बधाई!

संदीप अवस्थी, अजमेर : 'वागर्थ' जुलाई 2017 अंक में बदलाव दिखा, जो आक्रामक और चुनौतीपूर्ण है। मुख्य आकर्षण कश्मीरी कविताओं का लगा। संभवतः 'वागर्थ' (अगस्त) देश की सर्वप्रथम पत्रिका है जिसने 'कविवचन सुधा' पर इतनी विस्तृत सामग्री दी। भारतेंदु युग ही साकार हो उठा। आज भी खतरे वैसे ही हैं। विश्वास है, आगामी कुछ बरसों तक 'वागर्थ' यथार्थ का उसकी आंखों में आंखें डालकर मुकाबला करेगा। सदानंद देशमुख की 'महालूट' बेहतरीन रचना है अंक की। पल्लवी त्रिवेदी प्रभावित करती हैं।

अनुरोध यादव : वागर्थ का सितंबर अंक कहानियों की दृष्टि से एक उम्दा एवं संग्रहणीय

अंक! 'स्वच्छता दिवस', 'आसमानी घरोंदे' और 'एक बोरी आम' -ये तीनों कहानियाँ घोलकर पी जाने योग्य हैं। कैमरे की चकाचौंध में स्वच्छता के सिपाही सफाई करने निकलते हैं। काश! वे तथा भारत का हर नागरिक गिरिराज किशोर की कहानी- 'स्वच्छता दिवस' पढ़ पाते। निम्नवर्ग के सपने पल-पल, कदम-दर-कदम टूटते हैं लेकिन यह वर्ग नहीं टूटता, जरा सा भी नहीं; क्योंकि वह यथार्थ को जीता है। उसके अंदर जीवन जीने की ललक होती है! यह देखना है तो कोई संतोष झांझी की कहानी- 'आसमानी घरोंदे' पढ़े। शंकर की कहानी- 'एक बोरी आम' निम्नवर्ग की एक ऐसी दास्ताँ है जो पढ़ते-पढ़ते दिल को छूती ही नहीं; अपितु उसे खरोंच देती है कुछ देर परपराने के लिए। अतः पहली को बेहतर कहें तो दूसरी को क्या कहें और दूसरी को बेहतर कहें तो तीसरी को क्या कहें? तीनों में से कोई भी काढ़ने-बराने लायक नहीं है। इनके अलावा दो और कहानियाँ 'जेबकतरे का बयान' तथा 'पलायन' सोने पे सोहागा हैं।

मिथिलेश्वर : 'वागर्थ' का सितंबर अंक! स्त्री और दलित विमर्श को मैं नया नहीं मानता। प्रेमचंदकालीन साहित्य में इन्हें हम और सशक्त रूप में पाते हैं। फिलहाल मेरी चिंता का विषय तीव्र तकनीकी विकास में मानवीय मूल्यों का हास

है। ऐसे हास को सिर्फ साहित्य ही बचा सकता है।

अमरनाथ 'अजेय', सोनभद्र : 'वागर्थ' का जुलाई और अगस्त 2017 अंक पढ़ने के बाद लगा कि सामयिक संदर्भों में 'वागर्थ' नव्यता के किसी भी शीर्ष मानदंड को छोड़ना नहीं चाहती। पठनीयता के ज्वलंत संदर्भ एक साथ यहाँ उपलब्ध हैं। अगस्त अंक में कठिन दिनों में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा 'कविवचनसुधा' पत्रिका का प्रकाशन और उसके निहितार्थ का प्रसंग प्रस्तुत कर साहित्य-समाज को उनके जरूरी एजेंडे पर दृढ़ रह कर इन्हें और आगे ले जाने का आह्वान है।

जुलाई-अगस्त अंकों में तुकाराम, मधु कांकरिया की 'जंगली बिल्ली', पल्लवी त्रिवेदी की 'कन्फेशन', मराठी कहानी 'महालूट', श्रद्धांजलि सिंह का आलेख 'पितृसत्ता के चेहरे' और कविताओं में अरुण कमल, ऋतुराज, बेन ओकरी की अफ्रीकी कविताएँ एवं जल रहे कश्मीर के कवियों को पत्रिका में स्थान देकर सामग्री चयन एवं संयोजन में चार चाँद लगा दिया गया है। स्थायी स्तंभों के साथ ही प्रासंगिक विषयों पर आलेख, विश्वदृष्टि, स्मृति, समीक्षा, व्यंग्य, सोशल मीडिया, सांस्कृतिक गतिविधियाँ एवं अन्य आवश्यक एवं जरूरी स्तंभों के माध्यम से पत्रिका को खूबसूरत और पठनीय बनाने में कहीं से कोई कमी नहीं की गई है।

अनुरोध : 'वागर्थ' के पाठकों की राय का हमेशा स्वागत है। आप अपनी पसंद व्यक्त करने के साथ तार्किक ढंग से सहमति-असहमति के बिंदुओं से भी अवगत कराएं। हर माह के सर्वश्रेष्ठ पत्र लेखक के पास पत्रिका साल भर निःशुल्क भेजी जाएगी।